

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३८ अंक-१७३, वर्ष-१५, फरवरी-२०१२

भादो वद ६, शुक्रवार, दि.२२-९-१९७८, वचनामृत - २५५ पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - ९७

वचनामृत २५५.

'अंतर का अपरिचित मार्ग;...' भगवान आत्मा आनंद और ज्ञानस्वरूप (है), उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता, ये अनादि से अपरिचित है. आहा..हा..! 'अंतर का अपरिचित मार्ग; अंतर में क्या घटमाल चलती है...' आहा..हा..! धर्मी को भी अंदर घटमाल-राग आता है। आहा..हा..! (इसका) वीतराग की वाणी से निर्णय करना चाहिये। अपने स्वच्छंद से निर्णय नहीं करना। आहा..हा..! 'अंतर में क्या घटमाल चलती है...' आहा..हा..! 'उसका आगम...' परमागम, सर्वज्ञाने कहा दिव्यध्वनि का परमागम, 'एवं गुरु की वाणी से ही निर्णय किया जा सकता है। भगवान की स्यादवाद-वाणी ही तत्त्व का प्रकाशन कर सकती है।' क्या कहते हैं ? आहा..हा..! एकबार भगवान ऐसा कहे कि ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है। भोग निर्जरा का हेतु है ? भोग तो राग है, दुःख है। लेकिन दृष्टि के जोर को बताना है। ये दृष्टि का जोर शुद्ध द्रव्य पर है, इस कारण से, भोग का भाव आया। लेकिन उसका बंध अल्प होगा। उसकी गिनती नहीं करके, दृष्टि की प्रधानता से भोग को निर्जरा कहा। भोग निर्जरा हो तो भोग छोड़कर मुनिपना लेना। ये रहता नहीं। आहा..हा..! समझ में आया?

'भगवान की स्यादवाद-वाणी ही...' किस अपेक्षा से कहा है ? एकबार ऐसा कहे, कि सम्यग्दृष्टि को बंधन है ही नहीं। दूसरी ओर ऐसा कहे कि, जबतक यथाख्यात चारित्र पूर्ण न हो, तब तक ज्ञान और आनंद की परिणति अल्प है। इस कारण से विकारभाव है, दुःख है, बंधन होता है। आहा..हा..! एक ओर ऐसा कहे कि सम्यग्दृष्टि को बंध होता नहीं। किस अपेक्षा से ? मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी के अभाव की अपेक्षा से। लेकिन वहाँ बंध है ही नहीं, ऐसा माने तो वह अज्ञानी है। बंध तो दसवें गुणस्थान तक है। आहा..हा..! और बारहवें गुणस्थान में सुख की प्राप्ति, पूर्णानंद की प्राप्ति तो बारहवें (गुणस्थान में) होती है परंतु नीचे की दशा में आत्मा के आनंद का अनुभव हो, उसके साथ आनंद पूर्ण नहीं, साथ में राग की आकुलता का दुःख भी है। ये तो मेरु हिलाना है। ये हिले नहीं। आहा..हा..!

सच्चिदानंद प्रभु! ऐसी दृष्टि हुई, फिर भी स्यादवाद वाणी ऐसा कहे कि उसको बंधन नहीं। एक ओर कहे कि जबतक वीतरागता पूर्ण न हो, तबतक मुनिको भी बंधन, राग और दुःख है। आहा..हा..! ये बड़ी तकरार है न ? दृष्टि का फेर (है)।



'अमृतचंद्राचार्य' तीसरे श्लोक में कहते हैं। आहा..हा..! मैं तो शुद्ध चैतन्यवस्तु हूँ। लेकिन मेरी पर्याय में अभी 'कल्माषितायाः' शुभभाव है वह कलुशित है। पंच महाव्रत का भाव है... आहा..हा..! कलुशित है, दुःख है, मैं इतना दुःखी हूँ। तीसरे कलश में है। समझ में आया ? वीतराग की स्यादवाद-वाणी किस अपेक्षासे कहा ये समझे नहीं और एकांत खींच ले तो दृष्टि विपरीत हो जाती है। समझ में आया ?

यही कहते हैं, 'भगवान की स्यादवाद-वाणी ही तत्त्व का प्रकाशन कर सकती है।' आहा..हा..! एक ओर ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु (कहे), उसी निर्जरा अधिकार में लेते हैं कि धर्मी को आनंद का अनुभव है, फिर भी सुखदुःख का वेदन उसको आता है। भाई! निर्जरा अधिकार की दूसरी गाथा। शाता-अशाता का वेदन आता है। वेदन आकर बाद में खिर जाता है। लेकिन वेदन है। ९४. आहा..हा..! दूसरी गाथा। एक ओर ऐसा कहे कि ज्ञानी को दुःख है ही नहीं, बंध है ही नहीं। किस अपेक्षा से ?

मुमुक्षु :- जितना राग...

पूज्य गुरुदेवश्री :- उसे मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी की अपेक्षा से बंधन नहीं और दुःख नहीं। लेकिन जितना कषाय (है), अभी देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव आता है... आहा..हा..! वांचन का विकल्प आता है, कहने का विकल्प आता है। आहा..हा..! 'समाधिगतक' में तो ऐसा कहते हैं कि, उपदेश का विकल्प आता है यह उन्माद है। आहा..हा..! चारित्र का दोष है, दुःख है। आहा..हा..! ऐसा वीतराग का मार्ग (है)। समझ में आया ?

पर्याय में निमित्त को वश होकर पूर्णानंद की दशा नहीं, वहाँ दुःखदशा उत्पन्न होती है। राग कहो की दुःख कहो। आहा..हा..! 'राग आग दहे सदा,..' 'राग आग दाह दहे सदा, तातै समामृत सेईये।' आहा..हा..! ये शुभ और अशुभराग आग,

दाह (है)। 'छहढाला' में आता है। राग, आग, दाह दहे सदा, उसको छोड़कर समामृत सेईये। वीतरागभाव की सेवा कर। समझ में आया ? आहा..हा..!

वीतराग की वाणी स्यादवाद है। यह 'वाणी ही तत्त्व का प्रकाशन कर सकती है। जिनेन्द्रवाणी और गुरुवाणी का अवलंबन साथ रखना;...' स्वच्छंद से मत चलना। आहा..हा..! जिनेन्द्रवाणी, तीनलोक के नाथ परमात्मा की वाणी, दिव्यध्वनि, ॐकार ध्वनि... आहा..हा..!

मुमुक्षु :- उसका ज्ञान करना वह तो बराबर है, लेकिन उसका अवलंबन रखना ऐसा कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- अवलंबन है न। निमित्त का लक्ष्य वहाँ है न। वे क्या कहते हैं ऐसा लक्ष्य है न ? ये अवलंबन है। समझ में आया ? आहा..हा..! शास्त्र मार्ग दिखाकर अलग रहे। लेकिन मार्ग दिखाये कि अंदर में जा। आहा..हा..!

रात्रि में थोड़ा कहा था न। अरे..रे..! अज्ञानी प्राणी विषय के भोगकाल में रात्रि को पकवान पेड़ा और बरफी खाकर भोग लेते हैं। आहा..हा..! सब बात सुनी है, की नहीं लेकिन बहुत सुनी है। भोग लेने का भाव हो, तब पेड़े आधा शेर, पोना शेर बरफी लाकर दोनों खाये। अरे..! प्रभु! तू क्या कर रहा है ?

ऐसे अंतर का भोग लेना हो तो ज्ञान और वैराग्य की सामग्री लेकर अंदर जा। आहा..हा..! निर्जरा अधिकार में ज्ञान और वैराग्य दोनों शक्ति आती है। आहा..हा..! सम्यक्ज्ञान राग से भिन्न हुआ। राग है, राग है इतना दोष है, आसक्ति है। आहा..हा..! निश्चय से स्वामी नहीं, लेकिन एक अपेक्षा से अधिष्ठाता-स्वामी भी है। आहा..हा..! ऐसी बात!

'प्रवचनसार' में कहा है कि जितना शुभादि राग है, उसका अधिष्ठाता आत्मा है। उसकी कमजोरी से अपने से होता है। 'प्रवचनसार' ४७ नय अधिकार. वहाँ जितना विकल्प है, निर्विकल्प धर्म जो है, उसका अधिष्ठाता आत्मा है। ऐसा लिया

है। उसमें राग विकल्प होता है, उसका स्वामी आत्मा है। आहा..हा..! वह कोई कर्म से हुआ है ? अपनी कमजोरी से हुआ है। आहा..हा..! समझ में आया ? ये देखो!

एक ओर ऐसा कहे कि स्वस्वामीसंबंध नाम का आत्मा में एक गुण है। तो अपना द्रव्य शुद्ध, गुण शुद्ध और पर्याय भी शुद्ध हुई, इतना स्व और उसका आत्मा स्वामी। आहा..हा..! दूसरी ओर ऐसा कहे कि, जितना राग मुनि को भी उत्पन्न होता है... आहा..हा..! पंच महाव्रत का विकल्प भी राग है, जगपंथ है। कठीन बात है, भाई! पंच महाव्रत का विकल्प जो है वह आकुलता, राग और जगपंथ है, संसारपंथ है, इतना संसार है। आहा..हा..! समझ में आया ? वह बंध का कारण और दुःख है। आहा..हा..! मुनि को शुभ आता है (वह) जहर है, भट्टी

है, दुःख है। आहा..हा..! इसका स्वामी आत्मा है भाई!

एक ओर स्वस्वामीसंबंध में शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय स्व और स्वामी, एक ओर ये कहा। किस अपेक्षा से भाई ? ऐसे एकांत नहीं होता। आहा..हा..! तीनलोक के नाथ सर्वज्ञ प्रभु! उनकी यह (वाणी है)।

कहते हैं, 'जिनेन्द्रवाणी और गुरुवाणी का अवलंबन साथ रखना;...' लक्ष्य रखना की वाणी क्या कहती है ? और गुरु क्या कहते हैं ? अपने स्वच्छंद से मत मानना। आहा..हा..! 'तभी तु साधना के डग भर सकेगा।' तभी तु साधना के डग, अंतर स्वरूप में जाना। डग भरेगा तो पर्याय तेरी निर्मल होगी। आहा..हा..! बहुत सूक्ष्म भाषा में, सादी भाषा में (लिया है)।

(द्रव्यदृष्टि प्रकाश, पत्रांक-३४)

(आता है न) 'ज्ञानभंडार आत्मामेंसे ज्ञान उघड़ता रहता है।' जिसका ज्ञान विशाल हो उसमें लोगोंको आकर्षण हो जाता है, आश्चर्य हो जाता है कि, आहाहा ! क्या ज्ञान है !! क्या ज्ञान है !! परंतु ज्ञान तो ज्ञान भण्डारमेंसे उघड़ता है, तुझे ज्ञानभण्डारका कोई आश्चर्य नहीं है और (यह) उघाड़रूप ज्ञानका इतना आश्चर्य क्यों (होता है) ? ऐसा कहते हैं। ये सारे संकेत हैं। एक-एक बातमें इसका संकेत है। वस्तु ऐसी है कि, उसका आश्रय लेनेवाला, उसके सामने देखनेवाला, उसमें आसक्त होनेवाला खुद अपना भान भूलता है। इसी परसे तो श्रीमदजीने गोपांगनाकी भक्तिका दृष्टांत लिया है कि, गोपांगनाएँ भी अपना भान भूल जाती थीं। श्रीकृष्णको देखते वक्त भान भूल जाती थीं कि, मैं कौन हूँ ? मैं स्त्री हूँ, ऐसे नहीं रहा जाता, ऐसे नहीं बोलते, ऐसे नहीं चला जाता, ये सब भूल जाती थीं।

मुमुक्षु :- ज्ञानकी पर्याय गोपांगना है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये सभी पर्यायें गोपांगनाएँ हैं, ऐसा कहते हैं। और भगवान (आत्मा) श्रीकृष्ण है, ऐसा कहना चाहते हैं। वह भान भूल जाती है। वैसे तो रुचिका विषय ही ऐसा है। सबको छोड़ दे। अपने विषयके अलावा सबको (छोड़ दे), खुदको भी छोड़ दे - उसका नाम रुचि।

इस तरह यह सहजता है। इस मार्गकी और इस प्रकारके परिणामकी पद्धतिकी सहजता ही ऐसी होती है। इस तरह काम होता है। दूसरे प्रकारसे काम नहीं होता। विशेष कल लेंगे।

नवीन प्रकाशन

पूज्य भाईश्री की जन्मजयंती प्रसंग पर राजहृदय भाग-५ (गुजराती) में प्रकाशित किया गया है। वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर द्वारा कुछ ही समय में 'बहिनश्री के वचनामृत' ग्रंथ पर चले हुए 'पूज्य भाईश्री शशीभाई' के धारावाही प्रवचन 'अध्यात्म सुधा भाग-६' तथा 'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ पर चले हुए धारावाही प्रवचन 'राजहृदय भाग-६' थोड़े समय में प्रकाशित करने की भावना है।



**श्री परमागमसार वचनामृत १४६ पर पूज्य
भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन नं.५०
(दि.२४-१२-८२, भावनगर)**

प्रश्न :- परलक्ष्यी ज्ञान से आत्मा जाना नहीं जाता और अनादि मिथ्यादृष्टि को स्वलक्ष्यीज्ञान नहीं है तो साधन क्या ? यह साधन सम्बन्धित प्रश्न है। प्रश्नकार के अभिप्राय में केवल अनादि का परलक्ष्यी ज्ञान है इतना ही नहीं है, परन्तु परलक्ष्यी ज्ञान जैसे अविचल रहनेवाला हो या जैसे पलटना नामुमकिन हो ऐसा अभिप्राय है। इसमें अपनत्व जो हो चुका है न ! अहंपना आता है वहाँ शाश्वत अहंपना होता है। जहाँ-जहाँ अहंभाव होता है वहाँ-वहाँ शाश्वतता के आभासपूर्वक अहंभाव होता है। इसलिये मैं परलक्ष्यीज्ञानवाला, मैं इन्द्रियज्ञानवाला वैसा ही मैं कायम रहनेवाला ऐसे स्वीकारपूर्वक, ऐसा स्थापितकर अब मेरे लिये साधन कौन सा ? परलक्ष्यीज्ञान में रहते हुए, परलक्ष्यीज्ञान में ही रहते, रहते हुए मेरे लिये साधन क्या ? ऐसा प्रश्न है।

तब उत्तर देते हैं कि **'राग से भिन्न होना - यह साधन है।'** क्या कहते हैं ? परलक्ष्यीज्ञान पलटकर ज्ञान में स्वलक्ष हो ऐसी क्रिया हो सकती है। जीव को अनादि से परलक्ष्यी ज्ञान है इसलिये आगे भी ज्ञान परलक्ष्यी ही रहेगा ऐसा स्वीकार कर लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। ज्ञान की क्रिया स्वयं पलटती क्रिया है। बदलती क्रिया है। ऐसा परलक्ष्य मिटकर स्वलक्ष्य कैसे उत्पन्न हो ? उसका विचार जरूरी है। इसके लिये यह उत्तर है कि, **'राग से भिन्न होना - यह साधन है।'** वास्तव में तो ज्ञान में स्वरूप का ग्रहण होता है तब जीव राग से भिन्न होता है। ज्ञान में अपने स्वरूप का ग्रहण हुए बिना ज्ञान स्वलक्ष्यी नहीं

होता। फिर भी उत्तर ऐसा दिया है कि, **'राग से भिन्न होना-यह साधन है।'** राग की तरफ से उत्तर दिया है। राग से भिन्न तब हुआ जाता है जब ज्ञान से अभिन्नता वेदन में आये तब। यह परिस्थिति है। फिर भी, राग की अपेक्षा से उत्तर क्यों दिया है ? कि, राग सो मैं - ऐसे राग में अभिन्नता करके परिणामन जो कर रहा है। समयसार की १७-१८ गाथा है, इसमें यह विषय चला है कि, सर्वप्रकार से भेदज्ञान में प्रवीणता से अनुभव में आ रहे जो अनेक मिश्रभाव, यानी कि राग, ज्ञान वह सब अनुभव में आ रहा है। विचार है न ? जानने का होता है - वह ज्ञान भी है। परपदार्थ के आश्रयभूत परिणाम के राग भी है। जिसे हमलोग अभी विचार कहते हैं। ऐसे ये जो अनुभव में आ रहे जो मिश्रितभाव उसमें से जो भेदज्ञान में कुशल है वह क्या विचार करता है ? क्या अनुभव करता है ? कि, यह अनुभूति है सो मैं हूँ। ऐसा जो आत्मज्ञान! आत्मज्ञान की ऐसी व्याख्या की है कि, यह अनुभूति है सो मैं हूँ। अनेकभाव कि जिसमें अनुभव होता है, जहाँ अनुभव होता है, वह अनुभवस्वरूप मैं हूँ। उस अनुभव में क्या आता है ? कि, अनुभव में ज्ञान आता है।

कोई तर्क करे कि हमें तो अनुभव में राग आता है। ज्ञान तो बहुत दूर रह जाता है और अनुभव में हमें राग आता है। तब उसे ऐसा कहते हैं कि, देखो! भाई! अनुभव में राग नहीं आता, परन्तु जो राग ज्ञान में जानने में आता है, जिस राग का ज्ञान में प्रतिबिंब आता है वह ज्ञान अनुभव में आता है। ध्यान से देखो तो अनुभव में ज्ञान

आ रहा है। ज्ञान स्वयं अनुभूतिस्वरूप है। अनुभवस्वरूप है। ज्ञानमें ही अनुभव होता है और ज्ञान में ज्ञान का ही अनुभव होता है। ज्ञान में सिवा ज्ञान के दूसरा अनुभव होने का अवकाश भी नहीं है। ऐसी ज्ञान की परिस्थिति है। अतः कुछएक ज्ञेयों के प्रतिबिंब झलकने के समय जीव को लगता है कि मुझे उस पदार्थ का, उस भाव का अनुभव हो रहा है। वह भ्रांति है। वस्तुतः उस पदार्थ और उस पदार्थ सम्बन्धित जो ज्ञान हुआ है, या ज्ञेयाकार रूप जो ज्ञान हुआ है उसका ज्ञान को अनुभव हुआ है। ज्ञान में ज्ञान का ही अनुभव होता है, ज्ञेय जानने में आये उसवक्त भी, या चाहे कभी भी, किसी भी काल में।

मुमुक्षु :- अनुभव में जब...

पूज्य भाईश्री :- जीव को परपदार्थ की अत्यंत रुचि है और परपदार्थ की अत्यंत रुचिवश जीव को ऐसा लगता है कि मुझे परपदार्थ अनुभव में आ रहा है। परपदार्थ की रुचिवश जीव को ऐसा आभास होता है। यह तो लेकिन ज्ञानी कहते हैं कि आभास है। वह जीव को तो वास्तविक लगता है कि, मुझे परपदार्थ मेरे अनुभव में आ रहा है। वस्तुतः ऐसा बनना नामुमकिन है। ज्ञान में किसी भी पदार्थ का सम्मिलित होना अरे, ज्ञान में राग का सम्मिलित होना, मिश्रित होना, आना - यह वस्तुस्थिति में है ही नहीं। ऐसा नहीं बन सकता।

मुमुक्षु :- अनादिकाल से पर का अनुभव हुआ ही नहीं।

पूज्य भाईश्री :- वास्तव में तो ऐसा ही है कि जीव को अनादि से वर्तमान पर्यंत अपने ज्ञान का ही अनुभव होने के बावजूद हमेशा उसने ऐसा स्वीकार किया है कि मुझे पर का व राग का ही अनुभव हो रहा है। ऐसा वास्तव में मान रखा है। जो है नहीं ऐसा मान लिया है उसे मिथ्यात्व कहते हैं। अगर वास्तव में ऐसा बनता होता तो उसे मिथ्या नाम नहीं दे सकते। फिर तो वह ठीक होता, वास्तविक होता।

इसलिये ऐसा लिया कि, 'राग से भिन्न होना - यह साधन है।' अब चाहे जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में कैसा भी उदय हो, ज्ञान में ज्ञान होता है और ज्ञान में सिवा ज्ञान कुछ नहीं होता। ऐसे ज्ञान के ज्ञानानुभव का अवलोकन करना चाहिये। जब जीव को ऐसा लगे कि परपदार्थ का ज्ञान में अनुभव होता है तब विचार से तो समझ आयी है न ? विचार में तो समझ आयी है। तो जीव को विचार से भी प्रयोग करना चाहिये कि मेरे ज्ञान में क्या आता है?

हर्ष-शोक का एक दृष्टांत लेवे कि, कोई भी परपदार्थ, इच्छित पदार्थ का संयोग होनेपर जीव को हर्ष होता है और जिस पदार्थ को जीवने लाभदायी, सुखदायी माना है उसी पदार्थ का नाश होनेपर, वियोग होनेपर जीव को दुःख होता है, शोक होता है। अब ऐसी कोई भी हर्ष या शोक की दो प्रकार की अनुभूति हैं। दोनों विषम हैं। विषम है मतलब क्या कि, एक-सी नहीं हैं। सम नाम सरीखी। विषम नाम एकदूसरे से विरुद्ध। और आत्मा के स्वभाव से भी विरुद्ध है इस अपेक्षा भी उसे विषम कहते हैं। अतः जब भी किसी पदार्थ, इच्छित पदार्थ का संयोग हो तब जो हर्ष हुआ, बहुत अच्छा लगा, प्रिय लगा, आनंद हुआ, खुशी हुई ऐसा जो जीव को लगता है न ? तब ज्ञान में जाँच करे कि ज्ञान में क्या मिला ?

एक आदमी को पूरनपूरी भाती है। एक दृष्टांत लेवे उसे घी में डूबोकर पूरनपूरी परोसी गई। अब जीव क्या करता है ? कि, आगे से ही उसने कल्पना कर रखी है कि यह चीज बहुत अच्छी, यह बहुत अच्छी है ऐसा निश्चय है। बहुत अच्छी है इसका निश्चय है, निश्चय बना-बनाया पहले से है। ऐसे में प्रसंग उदयमान हुआ। ऐसे में जबतक ज्ञान में आया मतलब जबतक खाया तबतक, जीभ पर इसका स्वाद आया तबतक उसने इसका रस प्रगाढ़ कर लिया। भले ही कुछ ही क्षण हो, अल्प क्षण हो या ज्यादा समय हो। ज्यादा समय में

क्या है कि जीव को पता चल चूका हो कि आज भोजन में मेरी पसंदीदा चीज बननेवाली है। या जैसे अचानक थाली लगे तब पता चले। समय की कोई पाबंदी नहीं है कि समय ज्यादा चाहिये या कम चाहिये। निश्चित पदार्थ का सुख के लिये उसका कुछ क्षणों का उदय भी रस लेने के लिये पर्याप्त है। थोड़ी क्षण भी जीव को रस लेने के लिये पर्याप्त हैं। अतः जीव को रस प्रगाढ़ होना शुरू होने लगता है।

जब वास्तव में इन्द्रिय ज्ञान के सन्निकर्ष में आती है तब तो बहुत रस प्रगाढ़ कर देता है कि वाह! बहुत अच्छा। यह एक मिथ्यादृष्टि जीव की, अनुभव की प्रक्रिया का पृथक्करण है। इसके बजाय होना क्या चाहिये ? क्योंकि वैसी स्थिति तो सर्व जीवों की सर्व सामान्य है। इसके बजाय क्या होना चाहिये ? ज्ञानाभ्यास में परभाव और परपदार्थ का रस तोड़ने के लिये क्या होना चाहिये ? कि, एक तो विचार से दृढ़ निश्चय, पक्का निश्चय होना चाहिये कि, कोई भी परपदार्थ यह ज्ञान के लिये इष्ट भी नहीं है न तो अठीक भी है। यह ज्ञान माने इस ज्ञानमय आत्मा के लिये, मेरे ज्ञान के लिये कोई ठीक भी नहीं, मेरे ज्ञान में कोई अनिष्ट भी नहीं। मेरे ज्ञान में तो केवल ज्ञान ही है। इसके अलावा मुझे इष्ट-अनिष्ट ज्ञान में क्या हो सकता है ? ऐसा निर्णय करने के बावजूद भी जल्दी से इष्टपने का भाव-राग टूटेगा नहीं।

पहले तो राग का रस तोड़ने की प्रक्रिया शुरू होगी। राग के विषय में हमेशा ऐसा ही बनता है कि, पहले राग का रस टूटता है, फिर राग मिटता है। जीव को राग होते समय केवल राग नहीं होता परन्तु राग अत्यंत रुचि व रसपूर्वक होता है। अतः पहले उसका रस व रुचि टूटने चाहिये जब राग का अभाव होगा वरना राग का अभाव संभव नहीं, यह एक उसका नियम है। 'पूज्य बहिनश्री के वचनामृत' में एक विषय आता है कि,

रुचि पलटे बिना तू उपयोग को अंतर में लगाने का या स्थिर करने का प्रयत्न मत करना। और वैसे तू स्थिर उपयोग में आ नहीं सकेगा क्योंकि जीव का रस और रुचि परपदार्थ पर पड़ा है। उसमें ममत्व व एकत्व जीवने स्थापित कर रखा है। उसमें कोई बदलाव या कमी आये बिना उपयोग अंतर की ओर लगे ऐसा तो कतई संभव नहीं है। अशक्य है। अतः रस तोड़ने की प्रक्रिया ऐसी है कि, निश्चय में, विचारपूर्वक के निर्णय में भी कोई परपदार्थ वास्तव में इष्ट भी नहीं है, न तो अनिष्ट भी है - ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिये और ऐसा निश्चय वर्तता हो तब भी कई पदार्थों का उदयमान होना जैसे खाना-पीना ऐसे-ऐसे संयोग-वियोग हुआ करते हैं न ? जीव और अजीव सम्बन्धी व्यवहार जो चलता है उसमें वह अपने निश्चय अनुसार प्रवर्तने का प्रयास करता है। उसवक्त वह यों अवलोकन करता है कि यह अच्छापन लगा। पूरनपूरी खायी तब अच्छा लगा। मेरे ज्ञान में क्या आया ? क्या ज्ञान में मीठापन आया ? ज्ञान में घी आया ? ज्ञान में आया क्या ? ज्ञान में किसका प्रवेश है ? कि ज्ञान में मात्र जानना हुआ! जानने के अलावा ज्ञान में कुछ नहीं हुआ। अतः अवलोकन दौरान यों अवलोकता है कि, मैं ज्ञानस्वभावी हूँ अतः सहजज्ञान का होना यह सहज है। मेरे में ज्ञान का होना सहज है। इस ज्ञान में किसी भी परपदार्थ या परभाव का प्रवेश नहीं है। ऐसे भिन्नता करना, अलग होना। भिन्नता का (सिर्फ) विचार करना सो नहीं कहा, भिन्न होना ऐसा कहा है।

आम तौर पर लोग कहते हैं कि भेदज्ञान करना है ऐसा हम समझे हैं इसलिये भेदज्ञान करने का विचार आता है। परन्तु भेदज्ञान करना है, ऐसा विचार और भेदज्ञान में फर्क है। विचार है वह भेदज्ञान नहीं है। भेदज्ञान करना है ऐसा विचार वह भेदज्ञान नहीं है। भेदज्ञान सो भेदज्ञान है और भेदज्ञान का विचार है सो भेदज्ञान से

अन्य पर्याय है। यहाँ ऐसा कहते हैं कि भेदज्ञान करना है। 'राग से भिन्न होना - यह साधन है।' अतः इसमें क्या कहना है ? कि अपनी हयाती-मौजूदगी को पकड़ना है। राग से भिन्न मैं हूँ। खाली नहीं हूँ। ज्ञानादिचैतन्यस्वभावयुक्त, चैतन्य-स्वभावमयी मैं राग से भिन्न हूँ। राग होते समय भी मैं रागमय नहीं हूँ। मैं तो चैतन्यमय, ज्ञानमय हूँ। ऐसे भिन्न होना, भिन्न अस्तित्व का ग्रहण करना उसे भिन्न होना कहते हैं। वह साधन है। इसके अलावा और कोई साधन नहीं है। शुरुआत में ऐसे प्रयास में प्रथम प्रयास में ही सफलता नहीं मिल जाती है किन्तु बारम्बार प्रेक्टिस, अभ्यास किया जाये, सर्व उदय के काल में भेदज्ञान करने के लिये, भिन्न होने के लिये प्रयास किया जाये तो उस प्रयास में क्या कार्य हुआ ? कि, उदय के काल में उसके रस व रुचि जो तीव्र होते थे उस पर प्रहार होता है। प्रथम प्रहार होता है वह जीव को अपने रस पर होता है, इसप्रकार रस की मंदता होना यह नीव का काम है। यह नीव का काम हुआ। ऐसे नीव का काम हुए बिना बुनाई का कार्य किसी भी तरह मुमकिन नहीं है। धर्म की जो बुनाई करनी है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की पर्याय। ऐसा मूलभूत काम हुए बिना वह कुछ संभव नहीं है। यह परिस्थिति है।

अतः परलक्ष्यीज्ञान में आत्मा को सीधा जानना है। तू ऐसा कहता है कि मझे तो आत्मा कैसे जानने में आये क्योंकि मैं तो परलक्ष्यीज्ञानयुक्त हूँ। मैं कैसे आत्मा को जान सकूँ ? ऐसे विचारने के बजाय तू काम में लग जा ऐसा कहते हैं। कहाँ काम में लगना है ? कि, राग से भिन्नता करने के काम में लग जाना चाहिये। राग से भिन्न होने में, परपदार्थ से भिन्नता का विषय आ जाता है। क्यों आ जाता है ? कि राग है वह परपदार्थ संबंधित पर्याय है। परपदार्थ से जुड़ा हुआ जीव का विकारी पर्याय है - वह राग है। राग नाम पर अभिलाषा, अन्य की अभिलाषा। वैसे

परपदार्थ तो परपदार्थ ही है। परपदार्थ है वह स्वपदार्थ नहीं है। परपदार्थ तो परपदार्थ ही है। जड़ रजकण, जड़ रजकण में ही है। जीव पदार्थ जीव पदार्थ में ही रहा है। दोनों अपने-अपने स्वरूप में अवस्थित होनेपर भी यानी कि अपने स्वचतुष्टय-द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव। स्वचतुष्टय में अवस्थित होनेपर भी एक राग ऐसी चीज़ है जो सम्बन्ध करती है। दोनों को जोड़ता है। राग के माध्यम से जीव को परपदार्थ के साथ सम्बन्ध है, सम्बन्धयुक्त माना गया है। इस रागसे ही भिन्न होना है - ऐसा यहाँ कहते हैं। इस राग को ही तोड़ना। परपदार्थ, परपदार्थ में तो रहा ही है। वह तेरे में आकर तुझे नुकसान पहुँचाये ऐसी स्थिति तो है नहीं। वह परपदार्थ तेरे आत्मा में आये, प्रवेश करे, स्पर्श करे, नुकसान करे या लाभ करे, सुखी करे या दुःखी करे, यह तो परिस्थिति है ही नहीं। केवल तेरे तत्संबंधित कल्पित परिणाम, सुख के, दुःख के, लाभ के, अलाभ के, जो भी तेरे कल्पित परिणाम हैं उसमें दुःख है। वह अज्ञानभाव से होते हैं और उसका रस तुझे वहाँ रोक रखता है। उसकी रुचि तुझे वहाँ रोक रखती है। और तुझे अपना ज्ञान, स्वसन्मुखता और अपने में तन्मयता व लीनता होने नहीं देता। यह परिस्थिति है।

अतः पहली बात यह ली कि, 'राग से भिन्न होना वह साधन है।' यानी राग से भिन्न। ज्ञानमय ऐसे अपने स्वरूप का अनुभव करना, यह एक ही साधन है। परन्तु राग में मैंपना करके, एकत्वरूप से खड़ा होने से जीव को शुरु से राग से भिन्न होने का कहा जाता है। तू जहाँ खड़ा है, वहीं से पीछे हटना है। वहीं से सही दिशा में आना है। राग से भिन्न होना मतलब दिशा पलटना। परिणाम की दिशा पलटे बिना दशा बदलना कभी संभव नहीं है। पहले दिशा बदलती है और दिशा बदलती है बाद में दशा पलटती है। वरना परलक्षी परिणाम में चाहे कोई भी क्रिया करे, चाहे शास्त्रज्ञान

की क्रिया करे, चाहे शरीर की किसी भी व्रत, नियम, संयम लेकर क्रिया करे, परन्तु वह सारी क्रिया परलक्षी। पर से संबंध तोड़ने के बजाय पर से संबंध जोड़नेवाली होने से लाभ का कारण वह कभी नहीं होती। यह परिस्थिति है।

एक दिन श्वेताम्बर साधु आये थे, एक हफ्ता हो गया हमारे यह मुमुक्षुभाई के साथ। स्थिरयोग में आने का उपाय बतलाईये। इन्होंने बात की होगी कि आपको अगर कुछ जानकारी करनी हो तो हम सत्संग का इंतजाम करें। उनका एक प्रश्न था कि मेरा एक प्रश्न है वैसे। स्थिरयोग में कैसे आना ? स्थिरयोग नाम उपयोग। स्थिर मतलब आत्मा में स्थिर उपयोग कैसे करना ? कहा देखो ! हम लोग धर्म के क्षेत्र में, बाह्य व्यवसाय से निवृत्ति लेकर यहाँ आ गये। वे तो निवृत्त हैं न ?

अब स्थिरयोग करना मतलब आत्मा में उपयोग को स्थिर करना। अतः आत्मा में उपयोग को स्थिर करने का मतलब ही यह हुआ कि परपदार्थ से उपयोग को छुड़ाना। परपदार्थ से छुड़ाना और शुभाशुभ परिणाम से भी उसे छुड़ाना। जब ही तो आत्मा में स्थिर होगा न ? तो हमारी ऐसी भूल तो नहीं होती है ? यह ज़रा सोच लीजिये कि, हमलोग धर्म के निमित्त से, धर्म के बहाने जो कुछ भी करते हैं, इसमें अधिक शुभराग को दृढ़ करें या इस शुभराग अनुसार मन-वचन-काया के शुभयोग की जो क्रिया होती है, शुभयोग और शुभ उपयोग। उसे अधिक से अधिक करने का प्रयास करते हो और उसी प्रकार के सारे Initiative लेते हो, ऐसा तो हम नहीं कर रहे हैं न ! अगर ऐसा करते हो और हमलोग ऐसी अभिलाषा रखें कि, मेरा उपयोग आत्मा में स्थिर हो तो अच्छा या इससे तो भिन्न पड़ने का है व अलग होना है, इसीके साथ अधिक दृढ़रूप से एकमेक होने के प्रयत्न में, धर्म के निमित्त से उसे साधन मानकर उसे कल्याण का कारण मानकर हमलोग करें,

तो कभी भी स्थिरयोग होने का प्रश्न ही नहीं उठता। भेदज्ञान ही एकमात्र इसकी चाबी है। साधु-महाराज ने ऐसा पूछा था।

मुमुक्षु :- धर्म के बहाने उसके साथ एकत्व हो रहा है ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, इसीके बहाने। वास्तव में तो धर्म के बहाने ही उसमें एकत्व होता है।

साधु-महाराज का प्रश्न ऐसा था कि संक्षेप में बताईये। इसके लिये क्या आसान तरीका है ? संक्षिप्त चाबी बता दीजिये। इसकी संक्षिप्त चाबी तो भेदज्ञान प्रसिद्ध है। भिन्न होना! सर्वप्रकार के शुभाशुभ परिणाम से भिन्न होना और शरीर के मन-वचन-काया के योग से भी भिन्न होना, भिन्न होना ही एकमात्र इसका साधन है। और इसीप्रकार के अभ्यास से, इसीप्रकार के प्रयत्न के अभ्यास से इसमें सफलता मिलती है। भले ही प्रथम अवसर में सफलता न मिले। साथ में विचार आते रहें किन्तु इसका बारम्बार प्रयत्नरूप अभ्यास, प्रयत्नरूप अभ्यास होने पर ऐसा भेदज्ञान होता है कि जिसका फल शुद्धोपयोग या स्थिर उपयोग कहा जाता है।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- वह कहा न पहले कि निश्चय तोड़ना चाहिये। निश्चय तोड़ना चाहिये। यह पूरनपूरी खाते वक्त आपको अपना निश्चय पकड़ना चाहिये कि मैंने क्या निश्चय किया है कि, यह मुझे अच्छा लगा ? मेरा निश्चय क्या है ? जब उलटा प्रयोग हो रहा है तब आप इससे उलटा चलीए। उलटे से उलटा करने से सुलटा होता है, सीधा हो जाता है कि इसमें अच्छा क्या है ? ज्ञान होता है। राग होता है। मीठापन, घी आदि का स्वाद ज्ञान में मालूम पड़ता है। इसमें अच्छा क्या है ? और बुरा क्या है ? कि, ज्ञान में तो जानने के अलावा कुछ होता ही नहीं है न! जानना ही मेरा कार्य है। जानने तक ही मेरी सीमा व मर्यादा है। ठीक-अठीकपना तो केवल कल्पनामात्र है। और यह कल्पना आपको अपने पूर्व के अनुभव से भी

समझ में आयेगी कि, एक, दो, तीन, चार या जितनी भी पूरनपूरी खायी ? अगर अच्छी होती तो आपका सुख बढ़ते जाना चाहिये था। एक टुकड़ा खाने पर सुख लगा, तो पचास वाँ टुकड़ा खाते समय दुःख नहीं होना चाहिये न ? फिर तो सुख ही होना चाहिये था और सुख ही बढ़ते जाना चाहिये था। सुख की उतरोत्तर बढ़ोतरी होनी चाहिये थी। इसप्रकार अपने अनुभव की जाँच तो आपको करनी ही चाहिये कि इसमें केवल एक कल्पना चल रही है मेरी। अच्छेपन की कल्पना चल रही है। कल्पना के स्वरूप को भी वास्तविक अवलोकन के माध्यम से जब तक नहीं पहचानेगा, समझेगा नहीं, कल्पना का कल्पनापन भी समझे नहीं और कल्पना को नहीं बदलेगा और वास्तविकरूप से ऐसा समझ ले कि वाकई यह अच्छा लग रहा है। वास्तव में अच्छा है। अच्छेपने की कल्पना नहीं है किन्तु सच में ऐसा है जब तो रस कब टूटेगा ? वह रस तो कभी नहीं टूटेगा।

सारे परिणमन की डोर या आधार एकमात्र रस पर ही निर्भर है... ज्यों-ज्यों रागरस ज्ञानाभ्यास द्वारा टूटता जाता है त्यों-त्यों ज्ञानरस प्रगाढ़ होता जाता है। इसप्रकार एक साथ दोनों क्रियाएँ होती हैं। बारी-बारी नहीं होती, एकसाथ ही होती हैं। जैसे यहाँ 'अनुभवप्रकाश' में लिया न ? कि, 'शब्द 'साधक' है, अर्थ साध्य है। अर्थ साधक है व ज्ञानरस साध्य है। इतना लिया। अब अर्थ तो आपको समझ में आता है। मतिश्रुतज्ञान में अर्थ तो समझ में आता है, इसमें से ज्ञानरस में आना चाहिये। रागरस टूटना चाहिये व ज्ञानरस बढ़ना चाहिये। ऐसा होना चाहिये। दो पंक्तियाँ ली हैं।

'प्रज्ञाछैनी को साधन कहो या अनुभूति को साधन कहो वह एक ही साधन है।' प्रज्ञाछैनी ऐसी यहाँपर ज्ञान की पर्याय को उपमा दी है। उपमा इसलिये दी है क्योंकि छैनी का कार्य टुकड़े करने का, दो टुकड़े करने का कार्य करती है। उसकी

धार जो है बहुत तीक्ष्ण होती है। शास्त्रकारों ने इन दो मुद्दे को लेकर ज्ञान की पर्याय को प्रज्ञाछैनी की उपमा दी है। 'समयसार' के मोक्षअधिकार में... शरीर का त्याग होने पर आत्मा सिद्धालय में गमन करता है तब उसे द्रव्यमोक्ष भी कहते हैं। वहाँ द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष कैसा होता है, आचार्यदेव ने वहाँ प्रज्ञाछैनी व भेदज्ञान का विषय एजन्डा पर लिया है। भेदज्ञान के प्रगट स्वरूप को सँवारा है। भेदज्ञान के प्रयोग का अति स्पष्टरूप से वर्णन किया है। क्यों ? क्योंकि मोक्ष का मूल भेद विज्ञान है इसलिये। 'अमृतचंद्राचार्य' व 'कुन्दकुन्दाचार्य' की शैली जो है कि, जिस विषय को कहना चाहते हैं, उसके कारण-कार्य की तलस्पर्शी चर्चा करते हैं। ऐसी उनकी शैली है।

१४४ गाथा में शुद्धोपयोग की बात ली है। स्थिर उपयोग आत्मा में कैसे हो ? तब प्रथम इसके कारण की चर्चा की है कि, प्रथम तो द्रव्यश्रुत द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना। निश्चय से निश्चय कारण है और शुद्धोपयोग कार्य है। ऐसा लिया। इसतरह कारण-कार्य का विषय अनेक जगह पर, ऐसे लक्षपूर्वक, ऐसे दृष्टकोण सहित देखा जाय तो उसी प्रकार विषय की समीक्षा की है।

'प्रज्ञाछैनी को साधन कहो या अनुभूति को साधन कहो वह एक ही साधन है।' ज्ञान की पर्याय, राग और ज्ञान के बीच एकमेकपना हो रहा है। उसमें राग की मर्यादा और ज्ञान की मर्यादा परिणाम राग के और ज्ञान में, ज्ञान की सीमा को भिन्न-भिन्नरूप से ज्ञान में लेते हैं। दो के बीच एकमेकपना मिश्रपना था। इसके बजाय जहाँ राग है वहाँ ज्ञान नहीं और जहाँ ज्ञान है वहाँ राग नहीं है - ऐसे राग और ज्ञान को भिन्न-भिन्न करनेवाली ज्ञान की सूक्ष्मता, उसे यहाँपर प्रज्ञाछैनी ऐसी उपमा दी गई है।

मुमुक्षु :- दो करते हैं और...

पूज्य भाईश्री :- दो कारक, कितना कार्य होता है ? वह राग को भिन्न करता है। और ज्ञानमय

ऐसे अपने आपको अभिन्नरूप से ग्रहण करता है, इतना कार्य करता है। राग को भिन्न करता है इसतरह पहले ऐसा क्रम इसलिये है क्योंकि राग में अभिन्न हो रहा है इसलिये ऐसा क्रम कहते हैं। वस्तुतः अक्रमरूप से ज्ञानमय ऐसे स्वयं को अभिन्नरूप से ग्रहण करने पर राग से भिन्नता हो जाती है। राग से भिन्नता करने के लिए राग से भिन्न ऐसे नहीं देख पड़ता। ज्ञान के ग्रहण में राग से भिन्नता अनुभव में आती है और दोनों कार्य एक साथ ही होते हैं। कहने में भले ही इधर से कहे या उधर से कहे। ज्ञान से कहे या राग से कहे। कार्य तो एक ही समय में है। उसे प्रज्ञाछैनी ऐसा साधन कहने में आया है। यह प्रज्ञाछैनी है वह साधन है इसके अलावा कोई उपाय नहीं है।

दूसरा एक परलक्ष्य और स्वलक्ष के विषय में थोड़ा अधिक दृष्टांत का विचार करे तो। जैसे कोई दूसरे द्वारा किसी और को कही गई बात खुद पर निशाना हो तो कैसे समझ लेता है कि, यह मुझे कह दिया, मुझे सुना दिया। वैसे परपदार्थ पर से स्वपदार्थ पर स्वयं आ जाता है। मुझे सुना दिया, मुझे कह दिया, मुझे यह अच्छा लगा वैसा वह अनुभव करने लगता है। उसवक्त आपको मुझे.. मुझे... मुझे.. मुझे.. ऐसे खुदका लक्ष्य रहता है। वैसे यहाँ जो राग का, ज्ञान का, आत्मा का जो भी विषय चलता है, बातें चलती हैं, उसमें जीव को अपने आप को लेना चाहिये जैसे कि आत्मा ज्ञानमय मतलब मैं ज्ञानमय। जो आपको ज्ञान के प्रगट लक्षण से, ज्ञान के प्रगट अनुभव से अपना लक्ष बदलना चाहिये। जीव को ज्ञान पर आना चाहिये। जो परलक्ष है उसमें केवल राग और राग के विषय में जो तन्मयता है वहाँ से दिशांतर करने के लिये, दिशा बदलने के लिये आपको ऐसा कहा जाये कि, भाई! रागादि और देहादिस्वरूप नहीं है, तू ज्ञानस्वभावी आत्मा हो, ज्ञानमय आत्मा हो तो आपको ज्ञान पर आना चाहिये कि नहीं ?

लक्ष बदलना चाहिये। परलक्षी ज्ञान में भले ही आत्मा का पता नहीं चलेगा किन्तु परलक्ष को पलटकर स्वलक्ष करने पर आत्मा जरूर मालूम होगा। जरूर मालूम होगा इतना तो नहीं, बिना जाने रहेगा नहीं। जानने में आयेगा और जरूर जानने में आयेगा ही। यह परिस्थिति स्पष्ट है। इसे बदलने के लिये ऐसा कहते हैं कि, तुम राग में एकाकार हो रहे हो, उससे भिन्न हो जा। यह तो एक विचार आया और प्रस्तुत किया।

परन्तु ज्ञान में अपने आपको ही ग्रहण करने पर, ज्ञान में अपना ही लक्ष करने पर, परलक्ष छूट जाता है इसलिये परलक्षी ऐसा मैं, मुझे आत्मा का ज्ञान कैसे हो ? मुझे परलक्षीज्ञान में आत्मा कैसे मालूम हो ? यह तेरा प्रश्न अस्थान में है। यह असमाधान तेरा यहाँ समाधान को प्राप्त होता है। यह असमाधान है कि, मैं इन्द्रियज्ञानधारी, मैं परलक्षीज्ञानधारी, मुझे आत्मा कैसे मालूम हो ? आत्मा तो अतीन्द्रिय स्वरूप है और अतीन्द्रियस्वरूप जो आत्मा है, वह इन्द्रियज्ञान में और परलक्षी में जानने में नहीं आ सकता यह तो स्पष्ट समझ में आया है अतः मुझे आत्मा कैसे मालूम हो ? लेकिन भाई! तेरा मूल स्वरूप ऐसा नहीं है। परलक्षीज्ञानवाला ऐसा मैं - ऐसा तेरा मूल स्वरूप नहीं है। और तू कायम ऐसा ही है ऐसा स्वीकार कर लेने की तुझे कोई जरूरत नहीं है। यह परलक्ष पलटकर स्वलक्ष कैसे किया जाये ? कि भेदज्ञान द्वारा करना है।

सर्व उदय के काल में, चाहे जैसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हो, सीधा ज्ञान पर आ जाना चाहिये कि मुझे ज्ञान होता है। मेरे अंदर ज्ञान हो रहा है और जहाँ ज्ञान हो रहा है वहाँ दूसरा कुछ नहीं हो रहा है। ज्ञान पर जितने भी आघात-प्रत्याघात होते हैं वे केवल ज्ञान में प्रतिबिंबमात्र हैं। ज्ञानवज्र को कुछ नहीं हो सकता। ज्ञान तो वज्र समान है। उसे कुछ हो सके ऐसा है ही नहीं। जो कुछ Action-Reaction, आघात-प्रत्याघात

जो कुछ है वह केवल ज्ञान की स्वच्छता में प्रतिबिम्बमात्र है। ज्ञान में कुछ होना, लाभ होना, नुकसान होना, हर्ष-शोक होना - कुछ भी ज्ञान में संभव नहीं है। इसप्रकार अगर रस आपने तोड़ा और स्वयं ज्ञानमय है ऐसे अनुभव करने की कोशिश की, प्रयास किया, भले ही अनुभव न हो परन्तु प्रयास तो संभव है न! तो ऐसा अनुभव का प्रयास ही अनुभव का कारण है। या अनुभव का प्रयास अनुभवरूप फल को उत्पन्न करता है। इसके अलावा कोई भी प्रयास, कोई भी क्रिया अनुभवरूप फल को नहीं ला सकती और यह एक अनुभव ऐसी चीज़ है कि, जो भवभ्रमण के अभाव का नियमबद्ध कारण है। नियत कारण है। भव के अभाव का तीनोंकाल यदि कोई नियत कारण है, जो कारण है इसलिये उसे नियत कहते हैं। नियत नाम निश्चित। जिसमें अन्यथा होना संभव नहीं हो। जो नियमबद्ध हो उसे नियत कहा जाता है। वह एक ही कारण है।

मुमुक्षु :- राग की उत्पत्ति भी हो रही है और राग का जानना भी हो रहा है।

पूज्य भाईश्री :- राग की उत्पत्ति ज्ञान में नहीं होती। उत्पन्न हुआ राग ज्ञान में प्रतिबिम्बित होनेपर जानने में आता है। प्रतिबिम्ब का उठना उसे जानने में आया ऐसा कहते हैं। जिस पदार्थ का, जिस भाव का ज्ञान के परदे पर प्रतिबिम्ब झलकता है। ज्ञान वह ज्ञान दर्पण ऐसी चीज़ है कि जिसमें प्रतिबिम्ब आता है। चैतन्य दर्पण है इसलिये जानने में आता है ऐसा कहते हैं। परन्तु लक्ष यदि राग पर हो तो ज्ञान अनुभव में आने के बावजूद भी, प्रतिबिम्बयुक्त ज्ञान भी अनुभव में आने पर भी जीव मिथ्याभास से ऐसा अनुभव करता है कि वास्तव में परचीज या राग मुझे हो रहा है। ठण्ड मुझे लगती है और राग मुझे हो रहा है ऐसा जीव को अनुभव होता है ऐसा वास्तव में जीव को लगता है। अनुभव होता है मतलब सच में ऐसा अनुभव होता है ? वास्तव में ऐसा

नहीं है। वह भ्रांतिगत स्थिति है।

यदि आप केवल ज्ञान का अवलोकन करे, अकेले ज्ञान को देखे तो ज्ञान में ज्ञानानुभव रहा है। क्या है ? अगर मात्र ज्ञान को अवलोकन में लेवे तो उसमें ज्ञान का अनुभव आ रहा है। ज्ञान का रस रहा है। वैसे कहे तो अनुभवरस पड़ा है। ज्ञानरस कहो या अनुभवरस कहो। अतः जीव को ऐसा रस लेकर उसे प्रगाढ़ करना चाहिये। इस रस की प्रगाढ़ता में एक समय एक स्तर ऐसा आता है कि, जिसमें एकाकाररूप से ज्ञान में ज्ञान का उपयोग स्थिर होता है और तब राग की उत्पत्ति नहीं होती। तब सम्यग्दर्शन में राग का प्रथम अभाव हुआ और मोक्षमार्ग प्रगट हुआ ऐसा कहा जाता है। और ऐसे अत्यंत ज्ञानरस के प्रवेश में अत्यंत-अत्यंत आगे बढ़ने पर प्रगाढ़ होते-होते-होते एकदम एकाकाररूप से सिर्फ ज्ञान का अनुभव रहता है और राग की उत्पत्ति बंद हो जाती है। इसे निर्विकल्प शुद्धोपयोग कहने में आता है। उसे साधन कहा। उसे प्रज्ञाछैनी ऐसा कहा जाता है, इसके अलावा कोई साधन नहीं है।

शास्त्र का स्वाध्याय भी साधन नहीं है और दूसरा कोई व्रत, नियम, संयम या माला, पूजा या दया, दान, यात्रा की कोई क्रिया साधन नहीं है। सिर्फ ऐसे-ऐसे परिणाम पर साधन का व्यवहार या उपचार किया गया है। वह भी ऐसे जीवों के लिये कि जिन्होंने ऐसा शुद्धोपयोग प्रकट किया है ऐसे जीवों के लिये। दूसरों को तो साधन का उपचार भी लागू नहीं पड़ता। मूल में अनुपचार पर्याय प्रगट नहीं हुई है उसे औपचारिक पर्याय का प्रश्न लागू नहीं पड़ता है।

मुमुक्षु :- स्वरूपरस प्रगाढ़ होने पर...

पूज्य भाईश्री :- ज्ञानरस बढ़ना चाहिये। ज्ञानरस। इसीलिये तो कहा कि अर्थ साधक है और ज्ञानरस साध्य है। अर्थ में से ज्ञानरस आना चाहिये। आत्मा शब्द कहा, ज्ञान शब्द कहा, इसका अर्थ भासित करके उसमें से आत्मरस व ज्ञानरस

जीव को लेना चाहिये। साध्य होना चाहिये। लेना कहो या साध्य करना चाहिये ऐसा कहो।

मुमुक्षु :- मिथ्यादृष्टि जो भी जप, तप की क्रियाएँ करता है उसे क्या कहे ?

पूज्य भाईश्री :- वह जड़ की क्रिया। उसमें आत्मा की क्रिया नहीं है परन्तु वे सब जड़ की क्रियाएँ हैं। उन सब जड़ की क्रियाओं से चैतन्य की क्रिया नहीं होती। सिर्फ परलक्षीज्ञान हो व केवल राग हो, वे राग को प्रगाढ़ करते हैं। परलक्षीज्ञान को जोड़ जोड़कर राग को घूँटते हैं और राग को एकत्वरूप से दृढ़ करते हैं। इससे कभी लाभ नहीं होता केवल नुकसान का कारण है। वह नुकसान का व्यापार है, लाभ का व्यापार नहीं है। आत्मा को किंचितमात्र लाभ का कारण नहीं है। परन्तु नजर नीचे की ओर है। दृष्टि नीचे है न ? इसलिये तर्क ऐसा आता है।

संसार में संसारीजीव तो सब पाप में पड़े हैं। धंधा, व्यापार, कारखाना, दूसरा... तीसरा... आखिर में और कुछ नहीं तो गृहस्थादि व्यवसाय में, उदय में छकाय जीवों से तो घिरा है कि नहीं ? पृथ्वीकाय के जीव, वायुकाय के जीव की हानि हो, पानीकाय के जीव की हानि, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरैन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा हो। त्रस, स्थावर जीवों की जो हिंसा होती हो इससे तो शुभयोग में रहे तो उन जीवों की अहिंसा का पालन हो वह उससे तो अच्छा कि नहीं ? वे हिंसा करनेवालों से तो ये अच्छा कि नहीं ? भाई! तेरी नजर नीचे है। नीचदृष्टि से कभी उपर नहीं आया जाता। नीचेवाले से मैं अच्छा, नीचेवाले से तो अच्छा, नीचेवाले से तो अच्छा - यह बात ठीक नहीं है। कोई जीवने अभी बनिये की जाति में जन्म लिया फिर वह ऐसा सोचे कि, मैं नीच चांडालों से तो अच्छा, ढेढ़-चमारों से तो मैं अच्छा हूँ न! ऐसा विचार करता है ? इसका क्या अर्थ है ? इसका कोई अर्थ नहीं है। मेरे से जो अच्छे हैं उनपर दृष्टि रखकर, मैं अच्छा

बनने का प्रयत्न करूँ। नीचेवाले से मैं अच्छा हूँ। ऐसे अच्छेपने का अभिमान करने जैसा नहीं है।

इसप्रकार जब कभी शुभोपयोग को छोड़कर शुद्धोपयोग में आने संबंधित शास्त्र में आचार्य का, भगवान का उपदेश आये तब नीच दृष्टि के पोइन्ट को मुख्य करे, उस मुद्दे को मुख्य करे, जैसे दूसरों से तो अच्छा, दूसरे से तो अच्छा इतना तो करता ही है। तो वहाँ जो कहने का आशय है उस पर जीव का लक्ष नहीं जाता है। और नीची दृष्टि से परिणाम की स्थिति नीचे जाती है। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। दृष्टि नीचे होने से परिणाम की सृष्टि नीचे की, नीच पर्यायों का सर्जन होता है ऐसा कहते हैं। अतः ऐसे विचार करना उचित नहीं है।

मुमुक्षु :- ज्ञान में राग जानने में आता है...

पूज्य भाईश्री :- जीव की पर्याय में राग भी होता है। जीव की पर्याय में ज्ञान भी होता है। वह बात हमने ली। ठीक है। अब 'मैपना' कहाँ होता है, यह सवाल है। इतनी बात हमें समझमें आती है। जीव की पर्याय में राग हुआ। ज्ञान भी जीव की पर्याय में हुआ न ? अब तुझे अपनापन कहाँ होता है ? यह अवलोकन का विषय है। अपनापन होता है वहाँ अपनी हयाति वेदन में आती है। अब यहाँ जो सिखना है वह इतना ही है कि, तेरा अस्तित्व ज्ञानमय है। तू ज्ञानस्वभावी होने से तेरा अस्तित्व ज्ञानमय है। तू ध्यान से देख तो ज्ञान में मैं... मैं... मैं... मैं... मैं... मैपना तुझे अपने ज्ञान में मालूम होगा। और अगर तुझे ज्ञान में मैपना मालूम होगा, तो उसी काल में उत्पन्न हो रहे रागादि से तुझे भिन्नता मालूम पड़ेगी। कि यह राग होता हुआ मालूम पड़ता है, परन्तु ज्ञान में यानी मेरे में और मेरे में मतलब ज्ञान में होता हुआ मालूम नहीं पड़ता। क्योंकि दोनों एक नहीं है।

जैसे अंधकार व प्रकाश एक नहीं है। वैसे ज्ञानप्रकाश व राग अंधकार दोनों एक नहीं हैं। दोनों की जाति भिन्न है। लीजिये, एक विषय इसमें से निकला है कि, यह जो राग और ज्ञान, दो

को भिन्न करने का, अवलोकन से भिन्न देखना, जो भिन्न-भिन्न है उसे भिन्न अवलोकन में लेना। और अवलोकन में अपनत्व कहाँ हो रहा है इसका अवलोकन करना। दृष्टांतरूप में जो शुरूआत करता है उसको ऐसा लगता है कि, राग सो मैं ऐसा मुझे जानने में आ रहा है कि, इसमें ज्ञान है कि नहीं ? राग सो मैं ऐसा किसे जानने में आया ? कि, जहाँ ज्ञान हुआ उसे जानने में आया। जानने में आया इसमें ज्ञान आया कि नहीं ? तो इसमें ज्ञान भी है और राग भी है। अब दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार के पर्याय हैं, भिन्न जाति के पर्याय हैं तो ये साध्य-साधक के बोल में एक बहुत मार्मिक बात ली है, कि राग और ज्ञान की भिन्न-भिन्न जाति होना यह साधक है। ऐसा लिया है। स्वभाव और विभाव है उसमें और उसमें स्वभाव साध्य है।

दो भिन्न हैं। दो को अवलोकन में लेने पर दोनों की जाति का अभ्यास होता है। अभ्यास में जाति का अभ्यास होता है तब स्वभावजाति और विभावजाति। जब साध्य होता है तब उसमें साध्य जो है वह स्वभाव आता है। इसलिये दोनों की जाति जो है वह एक हो गई है। राग सो मैं उसमें दो जाति नहीं रहती। उसे प्रकाश और अंधकार की भिन्न-भिन्न जाति पहचानने पर वैसी पहचान होना वह साधक है और स्वभाव में एकाकार होना वह उसे साध्य है। परन्तु पहले उसे भिन्न-भिन्न जाति तो पहचान में आये। पहचान भी भेदज्ञान के प्रयोग से ही आती है और अनुभव भी भेदज्ञान के प्रयोग से ही आता है। अनुभव की वृद्धि और शुद्धता की वृद्धि, ये भी भेदज्ञान से होती है और पूर्ण मोक्षदशा, पूर्ण शुद्धि भी भेदज्ञान से होती है। आदि से अंत तक यह भेदज्ञान ही एक साधन है। इसीलिये तो 'अमृतचंद्राचार्यदेव' ने लिया है। कहाँ तक भेदज्ञान को भाना ? कि, 'यावत् ज्ञान ज्ञानः प्रतिष्ठिते' जहाँ तक ज्ञान ज्ञान में अच्छीतरह स्थिर न हो जाये तबतक भेदज्ञान को सतत भाना चाहिये, अछिन्नधारा ऐसा शब्द इस्तेमाल किया है।

विक्षेप हुए बिना अविच्छिन्नधारया। मतलब ऐसा कि, कभी-कभी तू विचार कर ऐसा तुझे प्रयास - एक विचार आ गया भेदज्ञान का तब तू ऐसा मान ले कि मैंने भेदज्ञान का प्रयत्न तो किया कि नहीं। ऐसे नहीं। सतत विचार नहीं परन्तु सतत प्रयास। विचार से आगे जाकर अवलोकन का सतत अभ्यास, सतत प्रयास। बारम्बार प्रतिक्षण, प्रसंग-प्रसंग पर, उदय-उदय में, सर्व उदय के प्रसंग में चलता रहे तो जीव को ज्ञानजाति और राग की जाति, दोनों की जाति भिन्न-भिन्न पहचानने में आयेगी। ऐसी जाति की पहचान होना वह साधक है और निर्विकल्प उपयोग होना वह इससे साध्य है।

मुमुक्षु :- यह जाति की पहचान तो विकल्प में होती है न ?

पूज्य भाईश्री :- ज्ञान में होती है। विकल्प में नहीं। ज्ञान में जाति पहचान में आती है कि यह ज्ञानजाति है, जो स्वभावस्वरूप है। यह रागजाति है, जो विभावस्वरूप है। फिर इस विभाव के रूप चाहे कितने भी हो। राग, द्वेष, मोह, रति, अरति, हर्ष, शोक ऐसे-ऐसे कोई भी, विध-विध प्रकार हो लेकिन सब विभाव हैं। इसतरह स्वभाव और विभाव भिन्न-भिन्न पहचानने में आने चाहिये।

मुमुक्षु :- आत्मा में उत्पन्न परिणाम है सो विभाव है न ?

पूज्य भाईश्री :- उत्पन्न होते हुए परिणाम को विभाव इसलिये कहते हैं कि जो त्रिकाली सामान्य स्वभाव है, इससे विशेषभाव है। सामान्य और विशेष। सामान्यभाव सो पारिणामिक भाव और विशेषभाव सो चारों गति के परिणाम, चार प्रकार के परिणाम इसे विभाव कहते हैं। विशेषभाव। चार में तो उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक आ जाते हैं। सब को विभाव कहते हैं। वैसा विभाव नहीं परन्तु विभाव नाम यहाँ विकारी भाव और स्वभाव नाम अविकारीभाव वैसे। विकार व अविकार की अपेक्षा से इसे स्वभाव और विभाव कहते हैं। ऐसे पहचानना चाहिये। विभाव मतलब विशिष्ट परिणाम वैसे नहीं है यहाँ पर।

द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-३३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.१०-८-१९९१

एक मुमुक्षुने लिखा है कि वांचन-विचारमें क्या करना ?
 'आपने वांचन-विचारणा वास्ते लिखा सो त्रिकाली
 अखण्ड ज्ञानानंद स्वभावमें अस्तित्वरूपी श्रद्धाकी यथार्थ
 व्यापकता निरंतर कायम रहे, जहाँके अनुभवमें परिणाम मात्रके
 अकर्तापनेका सहज अनुभव होता रहे।' (अब) कैसे अनुभव
 हो ? (तो कहते हैं कि), 'परिणामका कर्ता परिणाम अंश
 है, मैं त्रिकाली अंश नहीं।' ये कर्ता-कर्ममें दो कारक आये !
 (परंतु उसमें तो) एक कारक आये चाहे दो कारक आये,
 छः कारक साथ ही रहते हैं। किसी कारकमें एक कारक
 हो और दो नहीं हो या पाँच (कारक) हो और एक न
 हो, ऐसा नहीं बनता। एक कारक हो वहाँ छः कारक
 होते हैं। दो कारक हो वहाँ भी छः कारक होते हैं।

(यहाँ कहते हैं कि), परिणाम स्वयं ही कर्ता और
 परिणाम स्वयं ही कर्म, मैं त्रिकाली नहीं, ऐसा लेनेके लिए
 वह बात की है। क्यों वह बात ली है ? कि मैं न कोई
 परिणाम हूँ, न मैं परिणामका कर्ता, न तो परिणाम है सो
 मेरा कर्म, न तो परिणाम मेरा साधन। इस प्रकार पर्यायका
 एकत्व तोड़नेकी यह विधि है। पर्यायमेंसे एकत्व उठानेकी
 यह विधि है। अगर पर्यायमेंसे एकत्व छूटे तो पर्यायमें हो
 रहे विभाव अंशमेंसे भी एकत्व छूटे, और विभावअंशके विषयभूत
 पंचेन्द्रियके विषयमेंसे भी तन्मयता छूटे।

वैसे तो जीवको कब मालूम पड़ता है ? कि, परविषयमें
 तन्मय होता है तब। जब जीव परविषयमें तन्मय होता है
 तब वह तीव्र चिकने परिणामसे विकारमें परिणामन करता
 है। और वह विकार जीवकी शक्तिको अशक्तमें बदलता
 है। जीवकी शक्ति जो परिणामन करती है उसे अशक्त करती
 है। और अशक्त होते-होते, ज्ञान मिटते-मिटते, आवरित होते-
 होते निगोद तक चला जाता है। मूलमें तो कहाँ तक उसकी
 Line चलती है ? कि परद्रव्यमें तन्मय होने तक जाती है।
 अगर एक समयकी पर्यायमें तन्मय होगा तो रागमें तन्मय
 होगा तो रागके विषयमें तन्मय होगा। उसे रोक नहीं सकेगा।
 पूरी Line जुड़ जायेगी।

अब, धर्मके क्षेत्रमें जो जीव आते हैं, वे लोग ये गहरी
 बात नहीं समझते हैं, इसलिए क्या करते हैं कि, परविषयमें -
 पंचेन्द्रियके विषयमें तन्मय हो जाते हैं न ! हमारेसे मिठाई

ज्यादा खानेमें आ जाती है न ! यानी
 कि मिठाईका राग तीव्र हो जाता है
 न ! तो चलो हम मिठाई नहीं खानेका
 नियम ले लें। (इसतरह) जीव परविषय
 छोड़ने लगता है। कहाँसे शुरू करता
 है ? कि, स्थूलरूपसे परविषयको
 छोड़नेसे शुरूआत करता है। हम परविषयका त्याग कर दें,
 कि जिससे हमारे परिणाम नहीं खिचेंगे। इसतरह परविषयका
 संयोग छूट जाने पर, परविषय संबंधी परिणाम मिटाये नहीं
 जा सकते। यदि उन परिणामोंको मिटाना हो तो जहाँसे
 वैसे परिणाम हो रहे हैं उस परिणामकी भूमिकाको एकबार
 भिन्न कर दो, ऐसा कहते हैं। यह जैनदर्शनका उत्कृष्ट
 पारमार्थिक न्याय है !! यहाँसे अलग कर दो, एक समयकी
 पर्यायको अलग कर दो ! कोई कहे कि, सर्वथा अलग
 करे क्या ? तो कहते हैं, एकबार सर्वथा अलग करो न
 !! क्योंकि दृष्टि सर्वथा (पर्यायको) विषय नहीं करती। (अतः)
 श्रद्धामें तो ऐसा ही करना होगा। फिर ज्ञानके साथ उसका
 संबंध कितना ? किस अपेक्षासे ? संबंध कितना और किस
 अपेक्षासे यह बादमें समझमें आने लगेगा, वह पहले नहीं समझमें
 आयेगा। श्रद्धा (सम्यक्) होनेके पहले ज्ञान प्रमाण नहीं होता।
 श्रद्धाके कालमें ही ज्ञान प्रमाण होता है। इसके पहले ज्ञान
 प्रमाण नहीं होता।

मुमुक्षु :- जीव जो भूल करता है वह यह करता
 है कि, दृष्टिको अलग करनेके बजाय उसके विषयको अलग
 करता है, जो पर है।

पूज्य भाईश्री :- दृष्टि माने यहाँ क्या श्रद्धा लेना चाहते
 हो ?

मुमुक्षु :- हाँ, श्रद्धा लेनी है।

पूज्य भाईश्री :- (अब) श्रद्धा क्या करती है ? कि,
 श्रद्धाका शुद्ध स्वरूप तो अपने स्वरूपको श्रद्धना, यही है।
 और खुदका स्वरूप तो त्रिकाली अनंत गुणका पिंड
 परमपरिणामिकभाव एकरूप है। अब ऐसी श्रद्धा तो उसके
 पास अनादिसे है नहीं, अतः उसकी जो श्रद्धा है वह एक
 समयकी पर्यायकी है। (यानी कि) उतना ही मैं हूँ (ऐसी
 श्रद्धा करता है)। वहाँसे उसने अपना अस्तित्व (मानना) शुरू



किया, उतना ही मैं, इसमें क्या हुआ ? कि, अनेक (प्रकारका) कर्मोदय तो अनादिसे चला आ रहा है, उसके निमित्तसे (ज्ञानमें) जो कुछ विभावका फोटो आता है, खुदको भूलकर जो विभाव होता है उसमें मैं-पना हो जाता है। क्योंकि वह पर्यायमें होता है। एक समयकी पर्याय जितना मैं और विभाव उसका (एक समयकी) पर्यायमें होता है। निमित्त-नैमित्तक संबंध पर्यायमें उपजता है। अतः फिर ऐसेमें भान भूला हुआ जीव फिर जो परविषय है उसमें भी मैं-पना कर लेता है। यह शरीर मेरा, यह मकान मेरा, यह कुटुंब मेरा, यह समाज मेरा, यह सब मेरा, आबरू-कीर्ति (मेरी), यह सब मेरा...मेरा और मेरा..., वहाँ तक उसकी श्रद्धा उसको ले जाती है। सभी गुण श्रद्धाका अनुसरण करते हैं। ज्ञान, चारित्र, पुरुषार्थ सब (श्रद्धाको अनुसरते हैं)। अतः पूरा संसार इस तरह चलता है, तब जो लोग नहीं समझे (उन लोगोंने क्या किया) ? कि, हमें विभाव क्यों हुआ ? कि, ये लड्डू खानेसे हुआ, तो कहेंगे इस मिठाईका त्याग करो ! खानेका राग छोड़ना हो तो उपवास करो ! वैसे एकके बाद एक सब त्याग शुरू करता है। परिणाममें (विभाव)की उत्पत्ति कैसे न हो, इसका विज्ञान नहीं मालूम होनेसे इधरसे - उलटे ढंगसे शुरू करता है।

मूलमें तो यहाँसे शुरूआत करनी चाहिए कि, स्वरूपकी श्रद्धा करें, एक समयके परिणामको उसके छठों कारकोंसे भिन्न करके यदि पर्यायका एकत्व तोड़े, तब तो पर्यायके विकारसे भिन्नता होगी। वरना राग और ज्ञान भिन्न नहीं होंगे। राग और ज्ञान अलग ही नहीं होंगे।

मुमुक्षु :- अज्ञानी दर्पणका दल और प्रतिबिंब दोनोंकी मिलावट करता है, जब कि वे सर्वथा भिन्न हैं।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, दोनोंका मिश्रण कर देता है कि जो सर्वथा भिन्न हैं। दल कभी प्रतिबिंबरूप नहीं होता और प्रतिबिंब दलरूप नहीं होता। (यदि ऐसा हो तो दर्पणका नाश हो जाये, ऐसा है। चैतन्यदलको अलग करनेकी बात है। दलसे अलग कर ! ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- ज्ञेयभावरूप अंशको गौण करे और ज्ञानभावको मुख्य करे, तो पर्यायसे भिन्न हो सकेगा ?

पूज्य भाईश्री :- (ज्ञानभावसे) आगे ढलकर स्वभाव तक जाना चाहिए। सिर्फ पर्याय अंशको नहीं लेते हुए ज्ञान जो है वह स्वभाव आकाररूप है, अतः वहाँसे स्वभावका ग्रहण हो जाना चाहिए। ज्ञानमेंसे ज्ञानस्वभावका ग्रहण सहज ही

होता है। जैसे कि ज्ञेयाकार ज्ञान परसे क्या होता है ? कि, ज्ञेयका ग्रहण सहज हो जाता है। ज्ञेयाकार ज्ञानमें क्या होता है ? कि, जीव ज्ञेयाकार ज्ञानमें आसक्त हुआ कि, फिर ज्ञेयकी आसक्ति करनेके लिए नया कुछ नहीं करना पड़ता, सीधा ही परद्रव्य पर चला जाता है। वैसे ही अगर ज्ञान पर आये तो सीधा ही स्वद्रव्य पर चला जाये। उसकी Technique (कला) ऐसी है। यह स्वतः ही होता है। एकदम संक्षेपमें कहना हो तो ऐसा कहेंगे कि, रागको छोड़ व ज्ञानको पकड़ ! ज्ञानको पकड़ ऐसा कहनेके पीछे स्वभावको पकड़ ऐसा कहना है। ज्ञानस्वभावको पकड़, पर्याय अंशको नहीं, ऐसा कहना है। स्वभावका ग्रहण होते ही अनादिसे जो पर्यायत्वका ग्रहण है वह मिथ्यात्वरूप है, 'पर्यायमूढ़ा पर समया' वह छूट जाता है। बस, वह छूटना चाहिए।

ऐसा जब परिणामन होता है कि, 'परिणामका कर्ता परिणाम अंश है, 'मैं' त्रिकाली अंश नहीं। इस प्रकारके...' (अर्थात्) इस प्रकारसे जब परिणामन उत्पन्न हुआ फिर, 'एक ही समयमें परिणामका कर्ता व अकर्तापनेके...' दोनों उसके गुण हैं। कर्तृत्वका भी गुण है और अकर्तृत्वका भी गुण है। (वैसे तो) कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण (आदि सभी गुण हैं) और अकर्तास्वभाव तो है ही। परंतु उसमें रागादिका भी अकर्ता है और एक समयके परिणामका भी अकर्ता है। दोनों प्रकारसे अकर्तृत्व है। यह सारा अनुभव एक साथ होगा। अतः प्रमाणका विषय तब ही समझमें आता है। जब वह अपने शुद्ध स्वरूपमें श्रद्धाकी व्यापकता करेगा व अनुभव करेगा कि, मैं एक समयके परिणामका त्रिकाली अंश हूँ - ऐसा मैं, कर्ता नहीं हूँ। ऐसा जब उसको लगेगा तब वह ज्ञान प्रमाण होगा और तब ही कर्ता-अकर्तापनेका ज्ञान यथार्थ होगा। वहाँ तक नहीं होगा। तब तक मैं अकर्ता भी किस तरह और कर्ता भी किस तरह, ये दोनों बात नहीं समझमें आएगी। क्योंकि दोनों विरुद्ध शक्तियाँ हैं, कर्तृत्व और अकर्तृत्व विरुद्ध धर्मत्वरूप हैं। तो विरुद्ध धर्मत्व एक पदार्थमें कैसे रहे ? तो कहते हैं कि रहते हैं। परंतु वह समझना कैसे ? तो कहते हैं इस प्रकार समझना। भिन्न होकर - पर्यायसे भिन्न होकर (समझना)।

मुमुक्षु :- परिणामका कर्ता परिणाम अंश है, मैं त्रिकाली अंश नहीं - यह बराबर समझमें नहीं आया। 'मैं' त्रिकाली अंश नहीं - ऐसा क्यों लिखा है ? वास्तवमें तो मैं त्रिकाली

हूँ - ऐसा है इसके बजाय मैं नहीं ऐसा क्यों लिखा ?
 पूज्य भाईश्री :- मैं त्रिकाली अंश परिणामका कर्ता नहीं, ऐसा कहते हैं। परिणामका कर्ता परिणाम अंश है, मैं त्रिकाली अंश परिणामका कर्ता नहीं हूँ, इतना अध्याहार रहता है। क्योंकि पूरा वाक्य है न ! एक ही वाक्य होनेसे फिरसे लिखनेकी आवश्यकता नहीं। मैं त्रिकाली अंश परिणामका कर्ता नहीं। (अगर) मैं परिणामका कर्ता नहीं तो परिणाम मेरा कार्य नहीं। छाओं कारकोंसे परिणाम अलग हुआ कि नहीं ?

हम एक प्रश्न खड़ा करे कि, पर्यायके छः कारक भिन्न हैं, ऐसा कहकर आपको क्या लाभ करना है ? इससे आपको क्या फायदा है ? जैसे तो क्या है कि, वस्तुका जो संविधान है उसमें तो द्रव्य, गुण, पर्यायात्मक वस्तुका संविधान है। परंतु वह बंधारण द्रव्य, गुण, पर्यायात्मक है इतना समझमें आनेके पश्चात् जो पर्यायबुद्धिसे पर्याय मूढ़ ऐसे जीवको क्या करना चाहिए ? यह दूसरा एक प्रश्न उपस्थित होता है। तो कहते हैं कि, उसे पर्यायकी मूढ़ता छोड़नेके लिए इतना जोरसे उस पर्यायको धक्का देना चाहिए कि, परिणामका कर्ता परिणाम है, मैं त्रिकाली नहीं, ऐसे लेना चाहिए।

कल नियमसारकी ३८ और ५० गाथा ली थी। नियमसारमें उस (गाथामें) परद्रव्य, परस्वभाव और हेय - ऐसी तीन बातें क्यों की ?

एकबार सोगानीजीकी उपस्थितिमें (गुरुदेवश्रीकी) रात्रिचर्चामें यह प्रश्न पर चर्चा चली थी। याद आया (इसलिए कहता हूँ)। जिस दिन रात्रिचर्चामें यह प्रश्न चला था उसी दिन शामको मैं गुरुदेवके पास एकांतमें (मिलने) गया था। गुरुदेवको सोगानीजीके बारमें बात की थी कि, कलकत्तासे निहालचंद्रजी सोगानी करके जो आते हैं उनके साथ इन दिनों काफी तत्त्वचर्चा चलती है। वे जो चर्चा करते हैं और इसमें जो उनकी बातें आती हैं, लगता है जैसे 'वात ठेठथी आवे छे' (अर्थात् बहुत गहराईमेंसे आती है।) ऐसा शब्दप्रयोग मैंने किया था। गुरुदेवको ऐसे नहीं कह सकते कि, साहब ! ये ज्ञानी हैं, ये सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा हम नहीं कह सकते, उसमें विनय है। फिर तो अब बातको रखे कैसे ? ये तो बहुत Delicate position (नाजुक परिस्थिति) थी। नाजुक परिस्थितिमें गुरुदेवके आगे कैसे निवेदन करना कि, ये ज्ञानी

हैं। (फिर भी) इतनी बात की थी कि, कलकत्तासे एक मारवाड़ी भाई निहालचंद्रभाई (नामसे आते हैं)। (तो गुरुदेवने कहा) 'हाँ, हाँ, आगे बैठते हैं।' पास-पासमें बैठते थे, प्रवचनमें हम लोग पास-पासमें बैठते थे। (फिर मैंने कहा), (उनके साथ) तत्त्वचर्चा चलती है, 'तेमां वात बहु ठेठथी आवे छे।' गुरुदेवने पूछा 'ठेठथी वात आवे छे एटले?' (मैंने कहा) 'आपकी कृपा हुई हो ऐसा लगता है।' क्या कहा ? 'उस आत्मा पर आपकी कृपा हुई हो ऐसा लगता है।' बस ! गुरुदेव एकदम Serious (गंभीर) हो गये। (वैसे) शामको चक्कर लगानेके पश्चात् गुरुदेव पाट पर अचूक बैठते। दो-चार जन साथमें चक्कर लगानेमें होते थे। खानेका टाइम होते ही वे लोग निकल जाते। क्योंकि गुरुदेव तो पाँच-सवा पाँच बजे खाना खा लेते थे। प्रायः सब लोग वहाँ साढ़े पाँच, छः, सवा छः बजे तक खा लेते थे। इसलिए गुरुदेवके साथ चक्कर लगानेवालेका खाना तो बाकी होता था इसलिए सब उस वक्त बिखर जाते थे। गुरुदेव अकेले पाट पर बैठे होते। फिर कोई न कोई आने लगता। (उस दिन) दूसरे (लोग) निकल गये लेकिन तब मैं रुक गया। उस वक्त गुरुदेवको यह बात की थी। गुरुदेव एकदम गंभीर हो गये। गंभीर हो गये और गहरी सोचमें पड़ गये हो जैसे नीचे देखते हुए मौन हो गये। (इतनमें) कोई बुजुर्ग भाई आये, पगड़ी पहनी हुई थी। मैं नहीं पहचानता था और आकर सीधा उन्होंने गुरुदेवके चरण स्पर्श किये। आते ही गुरुदेवके चरण स्पर्श किये इसलिए गुरुदेवका उपयोग जो विचारमें लगा हुआ था, (फिर उन्होंने उनकी ओर ऊपर देखा)। आनेवालेको पता नहीं था कि, बात क्या चल रही है, क्योंकि वे तो मौजूद नहीं थे। अतः आते ही बैठनेके पहले उन्होंने सीधा चरण स्पर्श किया। बैठनेके पहले चरण स्पर्श करके ही बैठेंगे तो (यूँ) अँगूठाका स्पर्श हुआ तब गुरुदेवने ऊपर देखा कि, हम दोनों ही बैठे थे और ये कौन आया ? जैसे ही उनके सामने देखा कि उन्होंने बात करना शुरू किया। उन्होंने गुरुदेवको किसी बातमें पूछा या तो कोई बात चालू कर दी। (इसलिए) गुरुदेव उनके साथ बातमें जुड़े। उस भाईने बात आगे बढ़ाई। इस दौरान गुरुदेवने जो पूछा था और जो बात कही थी, गुरुदेवने जो मुझे पूछा, और मैंने जो जवाब दिया वह उपयोग पूरा बदल गया। परंतु मेरा काम तो पूरा हो गया था। क्योंकि मैं कोई

अपेक्षा लेकर गया नहीं था कि, गुरुदेव मुझे क्या जवाब देते हैं ? मैं तो इतना सोचकर गया था कि, गुरुदेवको सोगानीजीके बारेमें कुछ दो शब्द सीधे नहीं कहकर कैसे भी इस बातसे वाकिफ करना। बस ! इतनी बात हुई थी। फिर तो दूसरे दो भाई आये, फिर तो जो पाँच-दस लोग बैठते थे, वे सभी समय हुआ कि आने लगे। अतः दो आये, तीन आये, चार आये, फिर तो मैंने देखा कि यह जो अंगत बात है वह अब नहीं चलेगी (फिर भी) दस-पंद्रह मिनट मैं बैठा रहा। दूसरी-दूसरी बातें चलने लगी इसलिए मैं समझ गया कि अब शायद गुरुदेव यह विषय नहीं लेंगे। जब कि यह विषय भी परिचयका है, प्रत्यक्ष परिचयका है। आपसमें प्रत्यक्ष परिचय जब तक न हो तब तक किसीका कहा हुआ मान लेना, ऐसा कोई नहीं करेगा। ज्ञानी तो क्या ! कोई नहीं मानेगा। सामान्यतया ऐसी परिस्थिति है। (क्योंकि) यह विषय इतना गंभीर व मूल्यवान है। अतः दूसरी अपेक्षा भी रखना उचित नहीं था कि गुरुदेव इसे स्वीकार कर ले या मान ले, ऐसा तो था नहीं। अपना काम तो था उनके लक्ष्यमें बातको रख देना। लक्ष्यमें बात रखनेका ही काम था। फिर मैं तो खानेका समय हुआ इसलिए उठ कर चला गया।

रात्रिचर्चामें गुरुदेव पधारें। (चर्चामें) कोई विषय नहीं चल रहा था, खुदने ही विषय शुरू किया। ऐसे तीन अंगूली दिखाई। चलते हुए विषयका अनुसंधान क्या है, इसमेंसे याद आया। तीन अंगूली दिखाकर (कहा कि) जड़-पुद्गल संयोग हैं उसके लक्ष्यसे जीवको राग होता है इसलिए वह परद्रव्य और हेय है, क्या (कहा) ? जड़ जो संयोगरूप है उसका लक्ष्य करनेसे जीवको राग उत्पन्न होता है, विभाव होता है - वह है तो परद्रव्य, परंतु परद्रव्य है और हेय (भी) है।

(फिर) दूसरी अंगूली ली (और कहा कि), रागादि - पुण्यके परिणाम हो चाहे कोई भी हो परंतु उसके लक्ष्यसे - रागके लक्ष्यसे जीवको राग ही होता है। अतः वह भी परद्रव्य है और हेय है।

(फिर मैं तीसरी अंगूली दिखाकर कहा कि), एक समयकी शुद्ध सम्यग्दर्शनकी पर्याय हो या फिर चाहे केवलज्ञानकी हो, उसके लक्ष्यसे भी जीवको राग होता है, इसलिए वह परद्रव्य है और हेय है। ऐसा खुदने न्याय दिया। न्याय देकर फिर तुरंत सोगानीजीको संबोधन किया

'क्यों न्यालभाई ?' तुरंत ही (संबोधन किया), निहालभाईको बोलनेका विकल्प तो आ गया (फिर भी) बोले नहीं। एक दूसरा विकल्प तब आ गया। वह बात फिर बाहर निकलकर मेरे साथ हुई।

इस न्यायके जरीये वास्तवमें तो गुरुदेवने उन्हें बुलवानेका Try किया, क्योंकि मैंने बात कही थी कि, 'ठेठथी वात आवे छे।' इसलिए गुरुदेवने 'ठेठ सुधीनी' (चरमसीमाकी) बात ले ली। एक समयकी केवलज्ञानकी पर्याय भी परद्रव्य है और हेय है। यह बात चर्चामें ले ली। (उस वक्त) इसकी कोई चर्चा नहीं चलती थी। स्वयंने ही एक बात शुरू की। अगर उस दिन चर्चा हुई होती तो उस दिन प्रसिद्धिमें आ गये होते। परंतु कुदरती ये कुछ बोले नहीं। (क्यों) नहीं बोले उसका कारण बादमें कहता हूँ। परंतु यहाँ तक कि बोलनेका मन हुआ फिर भी नहीं बोले। फिर तो चर्चा लंबी चली। गुरुदेवने फिर से चर्चा ली किन्तु (ये) कुछ बोले नहीं इसलिए वापिस संबोधन नहीं किया था। (बातको) फिरसे स्पष्ट किया। वैसे भी गुरुदेव वक्तव्यमें एक ही बातको पुनः पुनः दोहराते थे। फिर तो चर्चाका समय पूरा हो गया।

(हमलोग) बाहर निकले और (स्वाध्याय मंदिरके) कंपाउन्डमें थे तब बोले कि, 'आज गुरुदेवने चर्चामें अपनी जो चर्चा चलती है वही विषय लिया और मुझे भी संबोधन किया।' (अतः मैंने कहा), 'आप क्यों बोलते नहीं हो ? जब गुरुदेवश्री चलाकरके आपको चर्चामें शामिल करते हैं तो फिर आप क्यों नहीं बोलते हो ?' तब उन्होंने कहा 'बोलनेका विकल्प तो आया था (और) बोलता भी, लेकिन एक दूसरा विकल्प खड़ा हो गया कि अगर मैं बोलूँगा तो बात तो पूरी खुल जायेगी। (और) बात खुल जायेगी तो, यहाँ तो मेरेसे पुराने-पुराने, बड़े-बड़े (लोग) जिनकी प्रतिष्ठा बहुत है, ऐसे लोग भी बैठे हैं। उनका अच्छा नहीं लगेगा। वे तो पुराने हैं और मैं तो नया आदमी हूँ। मैं कुछ बोलूँ तो बात बाहर हो जाये।' बोले तब तो बात बाहर आ जाये। बोले तब तो तुरंत नाप आ जाये। गुरुदेवके समक्ष यदि बोले तो बोलका तोल होनेमें तो देर नहीं लगती। गुरुदेवका तो उपयोग सूक्ष्म है।

गुरुदेवके पास (सोगानीजीके बारेमें) निश्चयाभासी हैं, ऐसी बात तो पहुँच गई थी। इसलिए (मैंने) बात कही थी। परंतु गुरुदेव तटस्थ रहे थे। बिना परिचय अपना अभिप्राय

तो वैसे भी नहीं देते। इस बीच मैंने बात की। इसलिए (दूसरोंसे) विरुद्ध अभिप्राय तो मेरी तरफसे मिल गया। कोई दूसरा अभिप्राय मिला था इससे मैंने कोई दूसरी बात कर दी इसलिए फिर खुदने प्रत्यक्ष चर्चा शुरू की, तो ये (सोगानीजी कुछ) बोले नहीं। बोलनेका विचार आया फिर भी बोले नहीं। विचार आया फिर भी क्यों नहीं बोले ? (क्योंकि) तुरंत ही ऐसा दूसरा विचार आ गया। First thought पर सीधा Second thought आ गया। उनको तो ऐसा लगा कि मेरा अच्छा दिखेगा और दूसरोंका अच्छा नहीं दिखेगा, दूसरोंका अच्छा न दिखे, यह बात ठीक नहीं। ऐसा सहज विकल्प आ गया। इसलिए बोलना सहज ही अटक गया। अगर बोले होते तो उस दिन प्रसिद्धि हो जाती। परंतु कुदरतके क्रममें जो घटना बननेवाली हो वही बनेगी न ! इसका नाम है कुदरत !

यहाँ तो यह कहना है कि, कर्तृत्व और अकर्तृत्व विरुद्धधर्म है उसका ज्ञान इस तरह होता है। दूसरी तरह उसका ज्ञान नहीं होता, इस तरह उसका ज्ञान होता है।

मुमुक्षु :- मुमुक्षुकी भूमिकामें मुमुक्षु पर्यायकी सर्वथा भिन्नतामें आ जायेगा ?

पूज्य भाईश्री :- जब मुमुक्षुकी भूमिकामें निषेधमें आता है तब ज्ञानी हो जाता है। वह मुमुक्षु नहीं रहेगा परंतु ज्ञानी हो जायेगा। इसमें क्या गलत है ? उत्कृष्ट मुमुक्षु हो और इस तरह यदि (निषेधमें) आ जाये तो वह ज्ञानी हो जाये। ज्ञानी होनेका प्रयत्न करता होगा तो यहाँ तक आ जायेगा। मूल विषय पर आयेगा तब तो ज्ञानी होगा न ? वहाँ तक कहाँसे ज्ञानी बनेगा ? कहाँ जोर देना है ? और कितना जोर देना है ? ये दो बात खयालमें न हो तो जोर अन्यथा देनेमें आ जायेगा। और जहाँ, जितना जोर देना है, ऐसा कब बनेगा ? कि, जब उसका (स्वरूपका) यथार्थ निर्णय होगा तब। यह विषय निर्णयमें तो आना चाहिए न ! कि मेरा स्वरूप कैसा है ? कितना महान है ! यह जब निर्णयमें आयेगा तब उस पर इतना अधिक जोर चला जायेगा कि एक समयके परिणामका कर्ता परिणाम है, मैं उसका कर्ता नहीं, ऐसा जोर आता है।

मुमुक्षु :- जैसे द्रव्य, गुण, पर्यायका जो अभ्यास है, उसमें परद्रव्यकी भिन्नताके अलावा और कोई हेतु नहीं है, उसका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है।

पूज्य भाईश्री :- नहीं, इससे ज्यादा नहीं।

मुमुक्षु :- अनादिकालसे जीव पर ऊपर आरोप करता है, कर्म पर आरोप करता है, भगवान पर आरोप करता है - ये सारे जो उलटे विपर्यास हैं वे तो मिट जाये परंतु पर्यायके एकत्वरूप जो मूल मिथ्यात्व है, वह द्रव्य, गुण, पर्यायके ज्ञानसे नहीं छूटेगा इसलिए यहाँ करुणापूर्वक यह बात की है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, वह संविधानके ज्ञानसे नहीं छूटेगा ऐसे लेना है। संविधानका विषय है वह ज्ञानका विषय है जब कि त्रिकाली सामान्य अखण्ड परम पारिणामिकभाव श्रद्धाका विषय है। ज्ञानमें आता है, परंतु ज्ञानमें आनेके पश्चात् यदि स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति आये तो वह ज्ञान सार्थक होकर अनुभव तक जायेगा। परंतु यदि स्वभावकी स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति न आये तो ज्ञान अनुभव तक नहीं जायेगा। इसलिए उसे निर्णयकी भूमिकामें लिया। निर्णयकी भूमिका ज्ञानप्रधान होनेपर भी श्रीमद्जीने प्रतीत शब्द क्यों इस्तेमाल किया ? यह विचार करने योग्य विषय है। निर्णय ज्ञानमें होता है, सविकल्पदशामें होता है और स्पष्ट अनुभवांशसे (होता है)। अनुभवांश भी ज्ञानकी पर्याय है। 'परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति' (ऐसा कहा है)। यहाँ परमार्थ माने स्वभाव। परम+अर्थ माने स्वभाव। इतने शब्द लिखे हैं, 'परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति वह दूसरा समकित है।' और 'निर्विकल्प परमार्थका अनुभव वह परमार्थ सम्यग्दर्शनरूप तीसरा समकित है।' परंतु वहाँ प्रतीति शब्द क्यों लिया ? क्योंकि एक तो इस निर्णयको वे समकित कहना चाहते हैं। दूसरा यह कि, वहाँ सिर्फ जानना नहीं होता (परंतु साथमें) विश्वास आता है कि, मैं ऐसा ही (हूँ)। इस तरह जोर आता है और ज्ञानबल उत्पन्न होता है। 'मैं ऐसा ही हूँ। जैसा त्रिकाली (स्वभाव) मुझे ज्ञानमें आया ऐसा ही मैं हूँ।' ऐसा विश्वास आता है। फिर पंचाध्यायीकारने इस विश्वासको ज्ञानकी पर्याय कही है। वे प्रतीतको भी ज्ञानकी पर्याय कहते हैं, उस वक्त रुचि हुई उसे भी ज्ञानकी पर्याय कहते हैं और उस वक्तकी श्रद्धाको भी ज्ञानकी पर्याय कहते हैं।

द्रव्य, गुण, पर्यायके जानकारिरूप ज्ञानसे एकत्व नहीं मिटता। और अनुभवज्ञानसे इसलिए मिटता है क्योंकि अनुभवज्ञानमें अनुभवके कालमें अविनाभावी श्रद्धा भी परिणामन करती है इसलिए। और इस श्रद्धाका विषय एक समयकी

पर्याय नहीं है। श्रद्धाका विषय उस समयकी श्रद्धा भी नहीं है, सम्यग्दर्शनका विषय सम्यग्दर्शनकी पर्याय भी नहीं है, सम्यग्दर्शनका विषय स्वसंवेदनकी पर्याय भी नहीं, सम्यग्दर्शनका विषय आनंदकी पर्याय भी नहीं। सम्यग्दर्शनका विषय उस वक्त उत्पन्न हुई वीतरागताकी पर्याय नहीं है और केवलज्ञानके वक्त केवलज्ञानकी पर्याय भी नहीं है।

मुमुक्षु :- अनुभव होवे तब द्रव्य, गुण, पर्यायकी जानकारी होती ही है लेकिन सिर्फ जानकारीसे अनुभव नहीं है।

पूज्य भाईश्री :- नहीं, जानना अलग वस्तु है, अनुभव अलग वस्तु है। इसलिए तो हम ज्ञानकी एक ही पर्यायमें ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार अलग-अलग क्यों लेते हैं ? क्योंकि जो जानना है वह ज्ञेयाकार ज्ञान है और अनुभव है सो ज्ञानाकार ज्ञान है। ज्ञानाकार ज्ञानको ज्ञानस्वभाव कहा है। वस्तुतः अध्यात्म शास्त्रोंमें जहाँ ज्ञानस्वभाव - ज्ञानगुणकी बात आती है, वहाँ ज्ञानवेदनकी बात चली है। तब वहाँ ज्ञेयाकार ज्ञानकी कोई प्रधानता नहीं है, कोई प्रयोजन नहीं है। वह तो परसे भिन्न होनेके लिए ही साधन है। पर जाननेमें आया ? तो कहते हैं, पर पररूप जाननेमें आना चाहिए। (ज्ञानमें) पर मालूम हुआ। तो कहते हैं पररूपमें मालूम हुआ ? वरना तुझे (स्व-रूपमें मालूम हो रहा है)। (इसप्रकार) स्व-पर प्रकाशकका प्रयोजन सिद्ध हुआ ? (अब), आज तू ज्ञानवेदनमें। ज्ञानाकार ज्ञानमें आज तू ! ये दोनों समकालमें हैं। जब स्व-पर प्रकाशक (ज्ञानमें) ज्ञान, ज्ञानरूप वेदनमें आये (अर्थात्) ज्ञानाकाररूपमें ज्ञान वेदनमें आये तब ही ज्ञेयाकारज्ञानमें ज्ञेय पररूप भासित होते हैं, वरना पररूप भासित नहीं होते (परंतु) स्व-रूपमें भासित होते हैं। यह इसका नियम है। ज्ञानकी पर्यायके परिणामनका यह विज्ञान है।

मुमुक्षु :- ज्ञानाकार ज्ञानमें आनेके पश्चात् परका विचार ही नहीं आता है न ? परमें राग-द्वेष होगा ही नहीं न ?

पूज्य भाईश्री :- नहीं, पर पररूप भासित होगा। पर, पररूप भासित हो तो कोई दोष नहीं होगा। परंतु पर, स्व-रूपमें भासित होगा तो एकत्व हो जायेगा। अध्यात्मका मूल थोड़ा गहरा है।

एक समयकी पर्यायका एकत्व तोड़े बिना त्रिकालीका आश्रय नहीं होता। त्रिकालीका आश्रय नहीं होता है मतलब त्रिकाली है सो अध्यात्म तत्त्व है और (उसका) आश्रय करना वह भी अध्यात्म तत्त्व है। बस ! अध्यात्म तत्त्व यहाँ समाप्त

हो जाता है। यहाँसे आगे अध्यात्मकी मर्यादा नहीं है। फिर जितना भी (विस्तार) है वह आगमका विषय है। आगम और अध्यात्म दोनोंका विचार करे तो अध्यात्म यहाँ पूरा हो गया। अब जो चलती हैं, वह सब आगमकी बातें हैं।

मुमुक्षु :- फिरसे लीजिये न !

पूज्य भाईश्री :- अध्यात्म तत्त्व है सो त्रिकाली शुद्ध आत्मा परम पारिणामिकभाव है और उसका आश्रय जो पर्यायें करती हैं वे भी अध्यात्मतत्त्वमें आती हैं। उसका आधार लेती हैं इसलिए उन्हें अध्यात्म तत्त्व कहते हैं। उसमें आधारभाव है। बस ! अध्यात्मका विषय यहाँ पूरा हो जाता है। इसके अलावा जितना भी विषय है वह सारा आगममें जाता है। फिर तो अध्यात्मकी बातको आगमकी भाषामें कह सकते हैं कि, यह जो हुआ वह सम्यग्दर्शन हुआ, तो कहते हैं, हम उसे उपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं। यानी कि यह आगमभाषाकी बात है। क्षयोपशम सम्यग्दर्शन हुआ, तो यह आगमभाषाकी बात है। हम तो जो स्वरूपका आश्रय किया इसीको समझते हैं - यह अध्यात्मभाषा है। स्वसंवेदन हुआ और स्वानुभव हुआ, वह अध्यात्मभाषा है। उस वक्त मति-श्रुतज्ञानमें अंतर्मुखता हुई, मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष हुआ तो कहते हैं, वह सब आगमभाषामें जाता है। मति-श्रुत - ये सारे भेद आगममें जाते हैं।

मुमुक्षु :- आगम अर्थात् व्यवहार ?

पूज्य भाईश्री :- नहीं, वह (कहनेकी एक) शैली है। शास्त्रोंमें भाषाकी दो पद्धति हैं। एक अध्यात्मपद्धति और दूसरी आगमपद्धति। (फिर) अगर कोई (शास्त्र)वचन आये तब, यह वचन अध्यात्मपद्धतिका है या आगमपद्धतिका है, यह मालूम न हो और उलट-सुलट समझ ले इसका कोई अर्थ नहीं है। उसे अपनी समझमें यह होना चाहिए कि, यह अध्यात्मभाषासे बात करते हैं, यही बात आगमभाषासे इस तरह करते हैं। आगमकी मर्यादा यह है, अध्यात्मकी मर्यादा यह है। सब स्पष्ट तो होना चाहिए न !

मुमुक्षु :- परिणामका कर्ता परिणाम अंश है, मैं त्रिकाली अंश नहीं। यह अध्यात्मभाषा है ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, यह अध्यात्मभाषा है। यह अध्यात्मका विषय है। क्योंकि, परिणामका कर्ता परिणाम है, ऐसे अलग होकर मैं त्रिकाली हूँ, ऐसा आ जाता है। (ऐसे निजस्वरूपका) आश्रय लेता है। अतः यहाँ विषय अध्यात्मपद्धतिसे

चलता है। यह अध्यात्मपद्धति है। उन्होंने तो सिर्फ अध्यात्मपद्धति ली है। वे आगमपद्धतिको देखते ही नहीं थे। आगम (पद्धतिसे) विषय लेना जैसे जानते ही नहीं थे, ऐसा कह सकते हैं।

अध्यात्म समझे बिना आगम समझमें नहीं आता। महान आचार्योंने धवलमें और अन्यत्र यह बात की है कि, छओं द्रव्य और उसके संबंधित जितना भी विस्तार है; ज्यादा विस्तार तो ये कर्मकी प्रकृति इत्यादिका है, सबसे ज्यादा विस्तार करणानुयोगका है। चरणानुयोगमें तो आचरण (के विषयमें) तो तीन गुणस्थान तक मिथ्याआचरण (है)। फिर चतुर्थ गुणस्थानसे सम्यक्आचरण और मुनिपदसे लेकर विशेष आचरण (है)। फिर श्रेणी (लगाना) वह तो अंतर्मुहूर्तकी बात है, उसका कितना लंबा (वर्णन) करे ! अतः जितना विस्तार है वह तो करणानुयोगका है। अतः विभाव परिणाम और विभाव परिणामके निमित्तसे, निमित्त-नैमित्तिक संबंधसे (बंधे गये) कर्म पुद्गल परमाणुओंका प्रकार, उसके अंश - जघन्य, मध्यम उत्कृष्ट अथवा अविभाग प्रतिच्छेद इत्यादि सब कुछ (करणानुयोगमें आता है)। परंतु वह जितना भी विस्तार है सब एक मात्र इस अध्यात्म तत्त्वको समझनेके लिए किया है।

जिनेन्द्रवर्णीजीने यह बात दो-चार जगह अलग-अलग प्रकरणमें ली है कि, छओं द्रव्यका विस्तार एक इस अध्यात्म तत्त्वको समझनेके लिए किया है। दिव्यध्वनिका प्रयोजन यही है। गणधरोका प्रयोजन भी इतना ही है। बहुत अच्छी बात की है। अर्थात् विषयका केन्द्रीकरण किया है। यह लंबी-लंबी बात आप करते हो लेकिन बातका केन्द्रस्थान कहाँ है ? तो कहते हैं, एक ही जगह केन्द्रस्थान है। अध्यात्मतत्त्व ऐसा जो आत्मा है उसे समझानेके लिए सब लंबी-चौड़ी बातें की हैं। वह समझमें आये तो सब समझमें आया और यह नहीं समझमें आये तो कुछ समझमें नहीं आया। अतः जिसको अध्यात्म समझमें आता है उसको ही आगम समझमें आता है। उस पर ही आचार्योंने बात की है कि, छओं द्रव्यका जो विस्तार है वह इस एक तत्त्वको (दिखानेके लिए है)। 'एगं जाणई सो सव्वं जाणई' यह आचारांगका पहला सूत्र है। बारह अंगमें पहला आचारांग है। बारह अंग जो हैं उनमें पहला आचारांग है। आचारांगके बाद सूत्रकृतांग, ठाणांग, समवायांग इत्यादि सब बादमें (आते) हैं। उसमें पहले अंगका पहला सूत्र यही है कि 'एगं जाणई सो सव्वं जाणई'

(अर्थात्) एक (आत्माको) जाना उसने सर्व जाना (और) यदि एकको नहीं जाना उसने कुछ नहीं जाना। उसमें सब आ गया। अतः अध्यात्मतत्त्वकी प्रधानता है। दिव्यध्वनिके बारह अंगमें भी अध्यात्मतत्त्वकी प्रधानता है। गुरुदेव तो ऐसा कहते थे कि, जिसने अनुभव किया, शुद्धात्मका जिसने अनुभव किया उसके ज्ञानमें बारह अंगका सार आ गया ! उसके अनुभवमें बारह अंगका निचोड़ आ गया ! जाओ ! उसे बारह अंग जाननेका बंधन नहीं है, शास्त्रज्ञानकी कोई अटक नहीं है, ऐसा राजमल्लजीने (कलश टीकामें) लिया है। जब कि कुंदकुंदाचार्यने उसे श्रुतकेवली कहा। (समयसारकी) नौ-दस गाथामें उसको श्रुतकेवली कह दिया। उसे केवलीका Title (पदवी) लगा दिया - श्रुतकेवली ! श्रुतज्ञानी हैं इसलिए (उन्हें हम) श्रुतकेवली (कहते हैं), जाओ !

मुमुक्षु :- आचारांगका मतलब आचरण कैसा रखना, यह हुआ ?

पूज्य भाईश्री :- चार अनुयोगमें आचारांग है सो आचरणका अनुयोग है। और उपदेशपद्धतिमें मुनिदशाका ही उपदेश दिया जाता है। फिर ऐसा कहेंगे कि, तेरेमें इतनी शक्ति न हो तो (तू) श्रद्धा करना। (ऐसे) उपदेशकी शुरुआत वहाँसे करते थे। अभी तो ऐसा काल नहीं है। ऐसे उपदेशक (भी) नहीं रहे और काल (भी) नहीं है। वरना बात तो वहाँसे ही चलती थी। भगवानके समयमें भी बात वहाँसे चलती थी। आचारांगसे बात चलती थी। अतः गणधरदेवोंने बारह अंगकी शुरुआत आचारांगसे की है। अभी तो सम्यग्दर्शनकी बात भी महँगी हो गई है। अरे...! मुमुक्षुताकी बात महँगी हो चुकी है, सम्यग्दर्शन तो कहाँ लेने जाये ? पात्रताकी बात महँगी हो चुकी है। पात्र (जीव) ढूँढ़ना मुश्किल पड़े ऐसा है।

मुमुक्षु :- स्वभावको ग्रहण करनेके प्रयत्नमें पर्यायका निषेध आता है ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, क्योंकि स्वभाव पर्याय रहित है। ग्रहण करनेवाली पर्याय है, परंतु स्वभाव ऐसा अद्भुत है ! भगवान आत्मा स्वभाव इतना अद्भुत है ! कि पर्याय अपना भान भूलती है ! ऐसा भान भूलकर जब स्वभाव पर जोर आता है तब सम्यक्ता प्राप्त होती है। वहाँ तक सम्यक्ता नहीं आती, ऐसा कहना है। ये सारे इसके संकेत हैं। ज्ञानीकी ये जो बातें आती हैं, उनमें इस प्रकारके संकेत आते हैं।

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-३ पर)

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा



प्रश्न :- प्रयत्न करनेपर भी परकी रुचि नहीं छूटती, तो कृपया बतलाईये कि परकी रुचि छूटकर आत्माकी रुचि कैसे हो ?

समाधान :- परकी रुचि तोड़ते-तोड़ते उसे पसीना आ जाता है। ऊपरी रुचि होती है कि आत्माका ही करने जैसा है, परन्तु एकत्वबुद्धि तोड़ने में मुश्किल पड़ती है; अनन्तकालका अभ्यास है; इसलिये प्रयास कर-करके थक जाता है-खेद होता है; करनेका तो यही है परन्तु पुरुषार्थकी कमीके कारण उसका विश्वास डगमगा जाता है। स्वयं है तो जुदा, परन्तु मोटे रस्सेकी भाँति एकत्व कर रखा है। स्वयं अनन्तकाल परके साथ एकत्वपने के अभ्यासमें रहा है; परन्तु अब उस अनन्तकालके सामने भेदज्ञानका अभ्यास करने पर सुलझनेमें अनन्तकाल नहीं लगता। धीरे-धीरे अभ्यास करे तो थोड़ा अधिक समय लगता है तथा उग्र अभ्यास करे तो (ज्यादासे ज्यादा) छह महिने लगते हैं। अंतरमें भले ही आत्माकी रुचि हो, परन्तु एकत्वबुद्धि तोड़ते-तोड़ते उसे मुश्किल पड़ती है और वह बाहर चला जाता है।

अपने और परके लक्षणको पहिचानकर यह द्रव्य-गुण-पर्याय मेरे हैं और यह पुद्गलके हैं, - इसप्रकार बराबर भेदज्ञान करनेपर, सूक्ष्म संधिस्थानको देख, प्रज्ञाछैनी चारों ओर घूम जाती है जिससे किसी जगह संधि नहीं रहती, बराबर दो विभाग हो जाते हैं। सूक्ष्मतासे लें तो गुणभेद, पर्यायभेद या किसी भी प्रकारके रागमिश्रितभाव-जो-जो भाव आयें उन - सबसे पृथक् हो जाता है। ज्ञानमें सब जानता है, परन्तु जहाँ-जहाँ एकत्वबुद्धि हो वहाँ सबसे भिन्न पड़ जाता है। शुभभाव कि जहाँ अपनेको बहुत रस लगता है

वैसे भाव, गुण-पर्यायके भेद आदि जो-जो सूक्ष्मभाव आते हों उन सबमें चारों ओर फिरकर प्रज्ञाछैनी स्पष्ट दो भाग कर देती है। एक चैतन्यका भाग और दूसरा विभावका भाग - ऐसे दो भाग कर देती है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२५९)



प्रश्न :- श्री 'समयसार'की १७वीं तथा १८वीं गाथामें क्या ऐसा बतलाया है कि भगवान आत्मा सबको अनुभवमें आता होनेपर भी अपनेको आत्मज्ञानका उदय नहीं होता उसमें दृष्टिकी भूल है ?

समाधान :- हाँ, दृष्टिकी भूल बतलानी है कि उसकी दृष्टि बाहर जाती है। जैसे कोई आदमी दूसरोंकी गिनती कर रहा हो कि - यह है, यह है, परन्तु स्वयं अपनेको गिनना भूल जाता है; उसीप्रकार स्वयं सब कुछ बाह्यमें देख रहा है, परन्तु 'मैं' चैतन्यद्रव्य हूँ ऐसे अपनेको ही भूल रहा है। उसे अपने अस्तित्वकी तथा आनन्दकी अनुभूति नहीं है। स्वयं अनुभूतिस्वरूप होनेपर भी आनन्द की अनुभूति नहीं है। ज्ञान ऐसा असाधारण लक्षण है कि जिस लक्षण द्वारा स्वयं अपनेको पहिचान सकता है। उस ज्ञायकताका नाश नहीं हुआ। ज्ञान ज्ञानरूपसे परिणामित हो रहा है परन्तु स्वयं ज्ञायकतारूप नहीं हुआ इसलिये उसकी ओर दृष्टि करे, उसका ज्ञान करे, आचरण करे, तो उसे आनन्दकी अनुभूति प्रगट हो।

(स्वानुभूतिदर्शन-२६०)



३७९

बंबई, जेठ वदी ३०, शुक्र, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

जिसकी प्राप्ति के बाद अनन्तकालकी याचकता मिटकर सर्व कालके लिये अयाचकता प्राप्त होती है, ऐसा जो कोई हो तो उसे तरनतारन जानते हैं, उसे भजें।

मोक्ष तो इस कालमें भी प्राप्त हो सकता है, अथवा प्राप्त होता है। परंतु मुक्तिका दान देनेवाले पुरुषकी प्राप्ति परम दुर्लभ है; अर्थात् मोक्ष दुर्लभ नहीं, दाता दुर्लभ है।

उपाधियोगकी अधिकता रहती है। बलवान क्लेश जैसा उपाधियोग देनेकी 'हरीच्छा' होगी, अब इस स्थितिमें वह जैसे उदयमें आये वैसे वेदन करना योग्य समझते हैं।

संसारसे कंटाले हुए तो बहुत समय हो गया है, तथापि संसारका प्रसंग अभी विरामको प्राप्त नहीं होता; यह एक प्रकारका बड़ा 'क्लेश' रहता है।

आपके सत्संगकी अत्यंत रुचि रहती है, तथापि उस प्रसंगकी प्राप्ति के लिये अभी तो 'निर्बल' होकर श्री 'हरि'को सौंपते है।

हमें तो कुछ करनेकी बुद्धि नहीं होती, और लिखनेकी बुद्धि नहीं होती। कुछ कुछ वाणीसे प्रवृत्ति करते हैं, उसकी भी बुद्धि नहीं होती; मात्र आत्मरूप मौनस्थिति और उस संबंधी प्रसंग, इस विषयमें बुद्धि रहती है और प्रसंग तो उससे अन्य प्रकारके रहते हैं।

ऐसी ही 'ईश्वरेच्छा' होगी ! यह समझकर जैसी स्थिति प्राप्त होती है, उसे ही योग्य समझकर रहते हैं।

'बुद्धि तो मोक्षके विषयमें भी स्पृहावाली नहीं है।' परंतु प्रसंग यह रहता है। सत्संगमें रुचि रखनेवाले जुंजरको हमारा प्रणाम प्राप्त हो।

१ 'वननी मारी कोयल' ऐसी एक गुर्जरादि देशकी कहावत इस प्रसंगमें योग्य है।

ॐ शांति: शांति: शांति:

नमस्कार पहुँचे।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (फरवरी-२०१२) का शुल्क श्री महेन्द्रकुमार जैन, भावनगर के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।